फरवरी, १६६०

सूयगड-सुत्तं–१

मुनि ललितप्रभसागर

प्रकाशक :

प्राकृत भारती अकादमी
३८२६-यति श्यामलाल जी का उपाश्रय
मोतिसिंह भोमियों का रास्ता
जयपुर-३०२००३ [राज.]

श्री जितयशाश्री फाउंडेशन
६-सी, एस्प्लानेड रो ईस्ट,
कलकत्ता-७०००६६

श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ
पो. मेवानगर-३४४०२५
जि. बाड़मेर (राज.)

मुद्रक :
पारदर्शी प्रिन्टर्स
२६१, ताम्बावती मार्ग,
उदयपुर-३१३००१ (राज.)

प्रकाशकीय

सिद्धान्त-प्रभाकर मुनिवर श्री ललितप्रभसागर जी सम्पादित-अनुवादित 'सूयगड-सुत्तं'-१ पुष्प ६९ के रूप में प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता है।

आगम-साहित्य जैन-धर्म की निधि है। इसके कारण आध्यात्मिक वाङ्मय की अस्मिता अभिवर्धित हुई है। जैन-आगम-साहित्य को उसकी मौलिकताओं के साथ जनभोग्य सरस भाषा में प्रस्तुत करने की हमारी अभियोजना है। 'सूयगड-सुत्तं' इस योजना की क्रियान्विति के चरणों में एक है।

प्रस्तुत आगम द्रव्य और तत्त्व पर प्रकाश डालते हुए भी मुख्यतः आचार-शास्त्र ही है। इसमें श्रमण-दृष्टि को परिमार्जित करने के लिए विभिन्न सामयिक दर्शनों की व्यूह रचना कर स्वमत की स्थापना की गई है। विभिन्न मतावलम्बियों से सम्पर्क होने के बावजूद अपने अपनाये गये साधना-मार्ग पर सर्वतोभावेन समर्पित होकर अप्रमत्त बढ़ाना ही प्रस्तुत आगम का प्रतिपाद्य है। कुल मिलाकर यह धर्म-ग्रन्थ सैद्धान्तिक वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तक है।

प्रस्तुत आगम के अनुवादक मुनिवर श्री ललितप्रभसागर जी मंजे हुए विद्वान् हैं। उनकी विद्वत्ता और भाषापरक पकड़ प्रस्तुत आगम में सर्वत्र झलकती है। अनुवाद जहाँ मूल को छूता हुआ है, वहीं युगानुकूल भाषा के संस्पर्शन से जीवन्त भी है। प्रस्तुतिकरण अपने आप में इतना सुव्यवस्थित है कि हमें विश्वास है कि इसे हर ओर मुक्त कण्ठ से सराहा जायेगा।

गणिवर श्री महिमाप्रभसागर जी ने इस आगम-प्रकाशन-अभियान के लिए हमें उत्साहित किया, एतदर्थ हम उनके हृदय से आभारी हैं।

पारसमल भंसाली	प्रकाशचन्द दफ्तरी	देवेन्द्रराज मेहता
अध्यक्ष	ट्रस्टी	सचिव
श्री जैन श्वे. नाकोड़ा	श्री जितयशाश्री फाउंडेशन	प्राकृत भारती अकादमी
पार्श्व. तीर्थ, मेवानगर	कलकत्ता	जयपुर
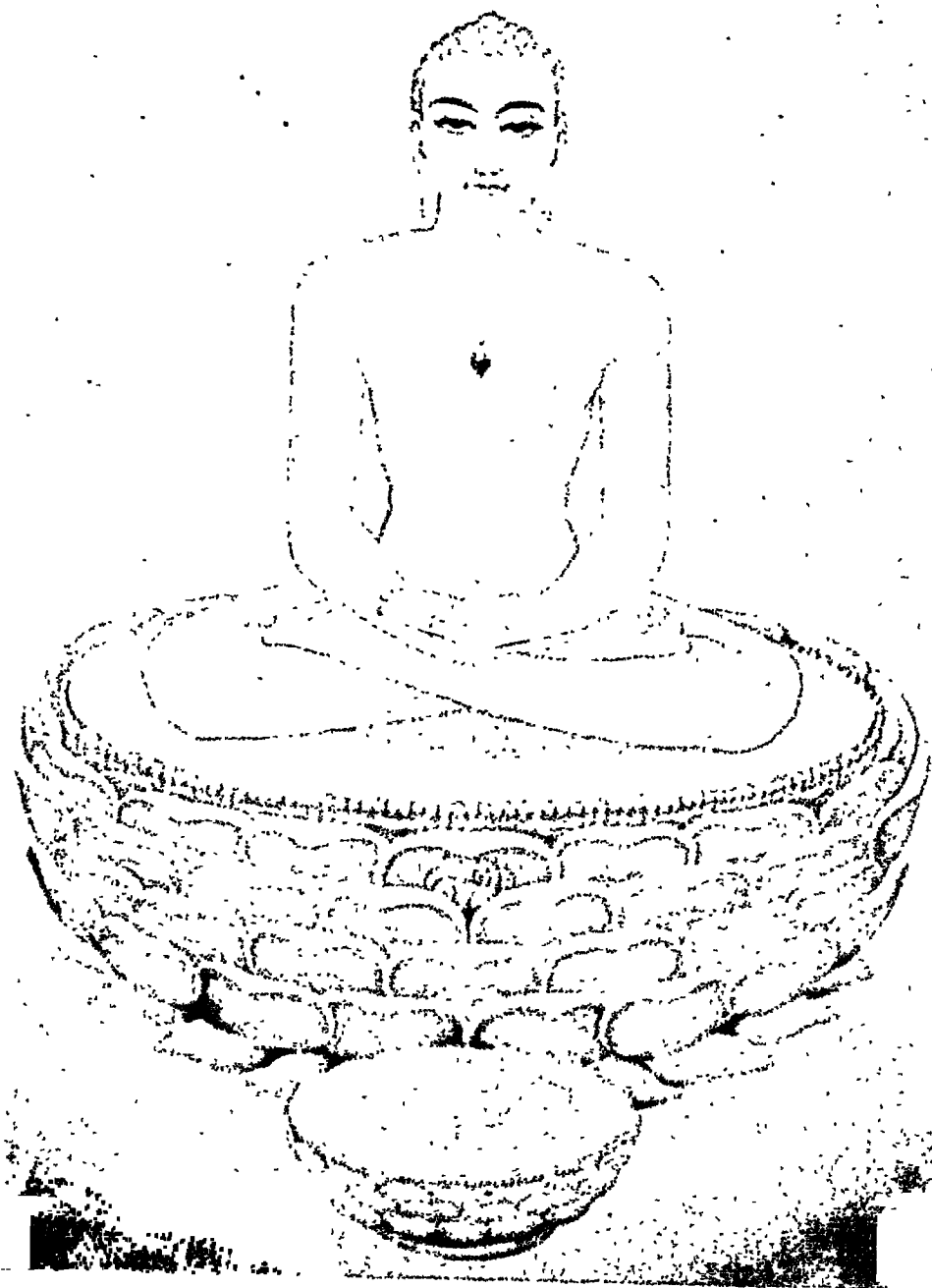
भगवान श्री महावीर

प्रथम-स्वर

'सूयगड-सुत्तं' दार्शनिक ऊहापोह और साधनात्मक पहलुओं को छूने वाला आगम है। भगवान् महावीर और उनके तथा उनसे इतर परिसर को सूत्रकार ने इस ग्रन्थ में मुहैय्या कराया है। इसलिए यह ग्रन्थ केवल वीर-उवाच ही नहीं है, अपितु उन दार्शनिकों का भी दस्तावेज है, जो अपना कुछ वर्चस्व रखते थे।

सूत्रकार ने सब मतों से हाथ मिलाने के बावजूद सरताज तो उसी को बनाया है, जिसकी पुष्टि के लिए उसने ग्रन्थ सरजा है। वह भगवान् महावीर की मशाल को हाथ में थामें सिद्धांत-दर्शन की राह पर अनथक बढ़ता चला गया है। राह में उसने कई राहगीरों को बल दिया है, बहुतेरों को जगाया है, कमजोरों को हाथ थमाया है, तो मूढ़ों को लताड़ा भी है। यह उसने तब तक किया है, जब तक गन्तव्य का उपसंहार नहीं हुआ है। कई स्थानों पर तो उसने ऐसे सूक्त सरजे हैं, जो जीवन को उदय से अस्त तक रोशन करने की अनूठी क्षमता रखते हैं। यों सरसरी निगाह से पढ़ने वाले को भी इससे कुछ तो पल्ले पड़ेगा ही, पर रत्नों की आभा तो ठेठ भीतर है। तल तक दस्तक देने वाला ही ग्रन्थ के अतल में प्रवेश कर पाएगा।

मक्खन ग्रन्थ को मथने से निकलेगा तो घी स्वयं के अन्तर-वर्तन में तपाने से। जीवन में इन सूक्तों/सूत्रों को आत्मसात् करने में ही इसकी संजीवितता है।

इसके पहले अध्याय में विभिन्न दर्शनों को व्यूह रचनाकर जैन-दर्शन-सिद्धांतों की सामयिक स्थापना की गई है।

दूसरे अध्याय में संसार की आँख मिचौनी का खेल दिखाते हुए सम्बोधि/सिद्धि का उपदेश दिया गया है।

तीसरे अध्याय में साधना-मार्ग में आने वाले कष्टों एवं बाधाओं को नजर-अन्दाज कर सहिष्णुता के बल पर स्वयं की अस्मिता को उजागर करने की प्रेरणा दी गई है।

चौथे अध्याय में स्त्रियों की अन्तर्-कथा को खोलते हुए ब्रह्म में चर्या करने के लिए उन्हें रोड़ा बताकर उनसे दूर रहने की सलाह दी गई है।

पांचवें अध्याय में तीसरे और चौथे अध्याय की मैत्री अनुस्यूत है और कहा गया है कि वह मुनि अमृत-मार्ग पर आने के बावजूद भी नरक की अंधेरी गलियों में अंधला जाता है जो या तो साधना के राह पर आने वाले कष्टों से तिलमिला जाता है या विपरित के आकर्षण में उलझकर स्त्री-वशवर्ती हो जाता है।

सातवें अध्याय में दुराचार की कांटों भरी अधोगामिनी पगडंडी पर न चलने की प्रेरणा देते हुए जीवन को सदाचार से रोशन करने पर बल दिया गया है।

आठवें अध्याय में साधक को बोध पूर्वक पराक्रम करने का निर्देश है।

नौवें अध्याय में धर्म की यथार्थता पर प्रकाश डालते हुए साधना के राजमार्ग पर अडिग बढ़ते रहने का उपदेश है।

दसवें अध्याय में साधक को आसक्ति और असमाधि की तरफ आँख मुंदे रहने का मशविरा देते हुए स्थितप्रज्ञ और समाधि में पराक्रम करने के लिए जोर दिया गया है।

ग्यारहवें अध्याय में मोक्ष-मार्ग और उस मार्ग पर आने वाले मील के पत्थरों की ओर संकेत किया गया है।

बारहवें अध्याय में ज्ञानपीठ पर बैठकर चतुर्वादों को अभिव्यक्ति दी गई है और वाग्वीर होने के साथ कर्मवीर होने के लिए उत्साहित किया गया है।

तेरहवें अध्याय में अहंकार को परमार्थ का पलिमन्थु स्वीकार करते हुए संसार के वलय से मुक्त होने के लिए यथार्थ के प्रति निष्ठावान् रहने का सुझाव दिया गया है।

चौदहवें अध्याय में साधक को ग्रंथियों का विमोचन करने के लिए दृढ़-संकल्पित होने के साथ-साथ समाधि का शास्ता होने के लिए चार कदम आगे बढ़ने को कहा है।

पन्द्रहवें अध्याय में जहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र को स्वयं में प्राण-प्रतिष्ठित करने के लिए विधान किया गया है, वहीं मनुष्य जीवन की दुर्लभता बताते हुए उसे निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रवक्ता बनने की सलाह दी गई है।

सोलहवें अध्याय में साधक को उन भूमिकाओं से साक्षात्कार करवाया गया है, जिनके कारण महनीयता उसके गले लगती है।

इन सोलह अध्यायों की यात्रा साधक को कदम-कदम पर मंजिल का आश्वासन देती हुई गंतव्य के द्वार पर दस्तक कराती है। आगम के शब्दचित्र इतने हुबहु लगते हैं कि पाठक स्वयं को महावीर-युग में उपस्थित पाता है। शताधिक मतबों को रोशन करने वाला यह जैन धर्म का पावन ग्रन्थ विभिन्न दर्शनों में मैत्री सम्बन्ध जोड़ने की प्रेरणा देता है। सद्विचार की आंखों से सदाचार की रोशनी प्रसारित करना ही इस आगम की मौलिक देन है।

अंत में, मैं बन्धुवर महोपाध्याय श्री चन्द्रप्रभसागर जी की अभ्यर्थना करूँगा, जिन्होंने 'सुयगड-सुत्त' के अनुवाद-कार्य का युगीन सम्पादन किया। संशोधन के लिए डॉ. उदयचंदजी जैन धन्यवादार्ह हैं व प्रस्तुतीकरण के लिए प्रकाशक तथा मुद्रक।

आशा है, यह प्रयास आगम-पाठक को जहाँ नये सिरे से सोचने के लिए प्रोत्साहित करेगा, वहीं मुमुक्षु-वर्ग को नव्य/भव्य संभावना से साक्षात्कार करवाएगा।

—ललितप्रभ

प्रवेश

सूयगड-सुत्तं	:	दार्शनिक व्यूह-रचना में स्वमत/सदाचार की पहल
आगम-क्रम	:	द्वितीय आगम-ग्रन्थ
आदर्श	:	भगवान् महावीर
रचनाकार	:	आचार्य सुधर्मा एवं अन्य
रचना-काल	:	ईसा-पूर्व पाँचवी से तीसरी शदी मध्य
रचना शैली	:	पद्य-बहुल
भाषा	:	मागधी/अर्धमागधी
प्रतिपाद्य	:	श्रमणाचार का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष
रस	:	वैराग्य रस
वैशिष्ट्य	:	गेय-झंकृति

अध्याय-अनुक्रम

पढमं अज्झयणं

समए

प्रथम अध्ययन

समय

आमुख

प्रस्तुत अध्याय 'समय' का अविच्छिन्न प्रवाह है। यहाँ समय का अर्थ है सिद्धान्त। सिद्धान्त के रूप में इस अध्याय में स्वसमय—जैनमत और परसमय—जैनेतरमत की चर्चा की गई है। प्रस्तुत अध्याय में जहाँ जैन दार्शनिक सिद्धान्त और जैनेतर सिद्धान्तों पर ऊहापोह किया गया है, वहीं जिन-मान्य आचार-व्यवहार पर भी प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार यह अध्याय न केवल दार्शनिक सिद्धान्तों के खंडन और मंडन से जुड़ा है; अपितु साधक के लिए साधनात्मक जीवन जीने का प्रशस्त मार्गदर्शन भी करता है।

समय प्रतीक है उस सरिता का, जो गति की ओढ़नी ओढ़े है। समय का सम्यक्-बोध और विकल्पातीत सत्य का स्वभाव ही समयसार है। कथ्य-अकथ्य विचारों का कथन, लभ्य-अलभ्य अनुभवों का उद्घाटन, दृष्ट-अदृष्ट दृश्यों का अङ्कन ही समय का हस्ताक्षर है।

समय सिद्धान्त भी है, काल भी है, समभाव भी है और आत्मा भी है। संसार के प्रवर्तन, संसरण और संचालन में समय ही आधारशिला है। विचार और आचार का मूल उत्स समय से सम्बद्ध है। प्रस्तुत धर्म-ग्रन्थ की सम्पूर्ण तात्त्विक चर्चा वास्तव में इसी समय का विस्तार है। प्रस्तुत अध्याय में दार्शनिक प्रतिपादन भले ही हो, पर मूलतः सूत्रकार का उद्देश्य व्यक्ति को तनाव से मुक्ति दिलाना है, बन्धन से छुटकारा दिलाना है।

साधक को तत्त्व-बोध के साथ साधना के मार्ग पर बढ़ाना उपादेय है और इस दृष्टि से सूत्रकार अपने प्रयास में सफल हुए हैं। सूत्रकार का कहना है कि बोधि को प्राप्त करो। बन्धनों को समझो और उन्हें तोड़ो। 'बुज्झिज्ज' इस ग्रन्थ का प्रथम शब्द है, जो व्यक्ति को उसकी बौद्धिक क्षमता का बोध कराता है। सत्य का आचरण अनिवार्यतः करवाना चाहता है; किन्तु बोध-पूर्वक। आचरित सत्य का ज्ञान और ज्ञात सत्य का आचरण; यही इस अध्याय का उपसंहार है।

पढमो उद्देसो

प्रथम उद्देशक

१. बुज्झिज्ज तिउट्टिज्जा
बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बंधणं वीरो ?
किं वा जाणं तिउट्टइ ? ॥

[सुधर्मा ने कहा—] बोध प्राप्त करो। बन्धन को जानकर उसे तोड़ डालो। [जम्बू ने पूछा—] महावीर ने बंधन किसे कहा है ? किसे जान लेने से उसे तोड़ा जा सकता है ?

२. चित्तमंतमचित्तं वा
परिगिज्झ किसामवि ।
अण्णं वा अणुजाणाइ
एवं दुक्खा ण मुच्चई ॥

जो सचेतन या अचेतन पदार्थों में अल्प मात्र भी परिग्रह-बुद्धि रखता है या दूसरों के परिग्रह का समर्थन करता है, वह अपने वैर को बढ़ाता है।

३. सयं तिवायए पाणे
अदुआ अण्णेहिं घायए ।
हणंतं वाणुजाणाइ
वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥

जो प्राणियों का स्वयं घात करता है या दूसरों से घात करवाता है अथवा घात करने वाले का समर्थन करता है, वह अपने वैर को बढ़ाता है।

४. जंसि कुले समुप्पण्णे
जेहिं वा संवसे णरे ।
ममाइ लुप्पई वाले
अण्णेअण्णेहिं मुच्छिए ॥

जो मनुष्य जिस कुल में जन्म लेता है या जिनके साथ रहता है, वह ममत्व-वान, अज्ञानी एक दूसरे के प्रति मूर्छित होकर नष्ट होता रहता है।

५. वित्तं सोयरिया चेव
सव्वमेयं ण ताणइ ।
संखाए जीविअं चेव
कम्मुणा उ तिउट्टइ ॥

धन और भाई-बहिन — ये सभी रक्षा नहीं कर सकते। जीवन के रहते कर्म-बन्धनों को तोड़ देना चाहिये।

६.	एए गंथे विउक्कम्म एगे समणमाहणा । अयाणंता विउस्सिता सत्ता कामेहिं माणवा ।।	कुछेक श्रमण - ब्राह्मण इन ग्रन्थियों का अतिक्रमण कर, परमार्थ को न जानने के कारण अभिमान करते हैं और वे मनुष्य कामभोग में आसक्त रहते हैं ।
७.	संति पंच महब्भूया इहमेगेसिमाहिया । पुढवी आऊ तेऊ वा वाऊ आगासपंचमा ।।	कुछेक दार्शनिक कहते हैं कि इस संसार में पांच महाभूत हैं— १. पृथ्वी २ पानी ३. अग्नि ४. वायु और ५. आकाश ।
८.	एए पंच महब्भूया तेब्भो एगो त्ति आहिया । अह तेसिं विणासेणं विणासो होइ देहिणो ।।	ये पांच महाभूत हैं । इनके एकीकरण से एक आत्मा उत्पन्न होती है और इनका विनाश हो पर देही का विनाश हो जाता है ।
९.	जहा य पुढवीथूभे एगे णाणा हि दीसइ । एवं भो ! कसिणे लोए विण्णू णाणा हि दीसए ।।	जैसे एक ही पृथ्वी-स्तूप विविध रूपों में दिखाई देता है, वैसे ही सम्पूर्ण लोक विज्ञ है, वह विविध रूपों में दिखाई देता है ।
१०.	एवमेगे त्ति जंपंति मंदा आरंभणिस्सिया । एगे किच्चा सयं पावं तिव्वं दुक्खं णियच्छइ ।।	कुछ दार्शनिक, जो प्रमाद और हिंसा में संलग्न हैं वे उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं । वह अकेला ही पाप करके तीव्र दुःखों का अनुभव करता है ।
११.	पत्तेयं कसिणे आया जे बाला जे य पंडिया । संति पेच्चा ण ते संति णत्थि सत्तोववाइया ।।	चाहे बालक हो या पंडित, प्रत्येक की आत्मा पूर्ण है । उसकी आत्मा दिखाई दे रही है या नहीं — ऐसा कहने से उसका सत्त्व औपपातिक नहीं है ।

१२. णत्थि पुण्णे व पावे वा णत्थि लोए इओ परे । सरीरस्स विणासेणं विणासो होइ देहिणो ॥	न पुण्य है, न पाप है, न ही इस लोक के अतिरिक्त अन्य कोई लोक है। शरीर के विनाश से देही का भी विनाश हो जाता है।
१३. कुव्वं च कारयं चेव सव्वं कुव्वं ण विज्जई । एवं अकारओ अप्पा एवं ते उ पगब्भिया ॥	आत्मा समस्त कार्य करती है, कराती है, किन्तु वह कर्ता नहीं है। अतः आत्मा अकर्ता है। ऐसा वे (अक्रियावादी) कहते हैं।
१४. जे ते उ वाइणो एवं लोए तेसिं कओ सिया ? तमाओ ते तमं जंति मंदा आरंभणिस्सिया ॥	जो ऐसा कहते हैं, उनके अनुसार यह लोक कैसे सिद्ध होगा। वे प्रमत्त और हिंसा से आवद्ध लोग अन्धकार से सघन अन्धकार की ओर जाते हैं।
१५. संति पंच महब्भूया इहमेगेसि आहिया । आयछट्ठा पुणो आहु आया लोगे य सासए ॥	कुछ दार्शनिक यहाँ पाँच महाभूत कहते हैं और कुछ दार्शनिक आत्मा को छठा महाभूत। उनके अनुसार आत्मा तथा लोक शाश्वत हैं।
१६. दुहओ ते ण विणस्संति णो य उप्पज्जए असं । सव्वेवि सव्वहा भावा णियईभावमागया ॥	उन दोनों (आत्मा तथा लोक) का विनाश नही होता तथा असत् उत्पन्न नहीं होता। सभी पदार्थ सर्वथा नियति भाव को प्राप्त हैं।
१७. पंच खंधे वयंतेगे बाला उ खणजोइणो । अण्णो अणण्णो णेवाहु हेउयं व अहेउयं ॥	कुछेक मूढ़ और क्षणयोगी दार्शनिक कहते हैं कि स्कन्ध पाँच हैं। वे इससे अन्य अथवा अनन्य एवं सहेतुक या अहेतुक आत्मा को नहीं मानते।

१८. पुढवी आऊ तेऊ य
तहा वाऊ य एगओ ।
चत्तारि धाउणो रूवं
एवमाहंसु यावरे ।।

ज्ञायकों (धातुवादी बौद्धों) ने कहा है कि पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु से शरीर का निर्माण होता है।

१९. अगारमावसंता वि
आरण्णा वा वि पव्वया ।
इमं दरिसणमावण्णा
सव्वदुक्खा विमुच्चइ ।।

[उनके अनुसार] चाहे गृहस्थ हो या आरण्यक अथवा प्रव्रजित, जो भी इस दर्शन में आ जाते हैं, वे सभी दुःखों से मुक्त हो जाते हैं।

२०. ते णावि संधिं णच्चा णं
ण ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं
ण ते ओहंतराहिया ।।

सन्धि को जान लेने मात्र से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। जो ऐसा कहते हैं, वे दुःख के प्रवाह का किनारा नहीं पा सकते।

२१. ते णावि संधिं णच्चा णं
ण ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं
ण ते संसारपारगा ।।

सन्धि को जान लेने मात्र से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। जो ऐसा कहते है, वे संसार के पार नहीं जा सकते।

२२. ते णावि संधिं णच्चा णं
ण ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं
ण ते गब्भस्स पारगा ।।

सन्धि को जान लेने मात्र से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। जो ऐसा कहते हैं, वे गर्भ के पार नहीं जा सकते।

२३. ते णावि संधिं णच्चा णं
ण ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं
ण ते जम्मस्स पारगा ।।

सन्धि को जान लेने मात्र से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। जो ऐसा कहते हैं, वे जन्म के पार नहीं जा सकते।

२४. ते णावि संधिं णच्चा णं ण ते धम्मविओ जणा । जे ते उ वाइणो एवं ण ते दुक्खस्स पारगा ॥	सन्धि को जान लेने मात्र से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते । जो ऐसा कहते हैं, वे दुःख के पार नहीं जा सकते ।
२५, ते णावि संधिं णच्चा णं ण ते धम्मविओ जणा । जे ते उ वाइणो एवं ण ते मारस्स पारगा ॥	सन्धि को जान लेने मात्र से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते । जो ऐसा कहते हैं, वे मृत्यु के पार नहीं जा सकते ।
२६. णाणाविहाइं दुक्खाइं अणुहोंति पुणो पुणो । संसारचक्कवालम्मि मच्चुवाहिजराकुले ॥	वे मृत्यु, व्याधि और बुढ़ापे से आकुल संसार रूपी चक्र में पुनः-पुनः नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं ।
२७. उच्चावयाणि गच्छंता गब्भमेस्संतणंतसो । णायपुत्ते महावीरे एवमाह जिणोत्तमे ॥	वे ऊँच और नीच गतियों में भटकते हुए अनन्तवार गर्भ में आएँगे – ऐसा जिनेश्वर ज्ञातपुत्र महावीर ने कहा है ।
—त्ति बेमि ।	—ऐसा मैं कहता हूँ ।

बीओ उद्देसो — द्वितीय उद्देशक

२८. आघायं पुण एगेसिं उववण्णा पुढो जिया । वेदयंति सुहं दुक्खं अदुआ लुप्पंति ठाणओ ॥	कुछ कहते हैं कि जीव पृथक-पृथक उत्पन्न होते हैं, सुख दुःख का अनुभव करते हैं और अपने स्थान से लुप्त होते हैं, मरते हैं ।

२६. ण तं सयं कडं दुक्खं कओ अण्णकडं चं णं । सुहं वा जइ वा दुक्खं सेहियं वा असेहियं ॥	वह दुःख न तो स्वयं कृत होता है और न ही अन्यकृत । वह सुख या दुःख सिद्धि सम्वद्ध हो, असिद्धि/संसार-सम्वद्ध हो, नियतिकृत होता है ।
३०. ण सयं कडं ण अण्णेहिं वेदयंति पुढो जिया । संगइयं तं तहा तेसिं इहमेगेसिमाहियं ॥	जीव न तो स्वयंकृत का अनुभव करते हैं और न ही अन्यकृत । वह तो सांगतिक/नियतिकृत होता है । ऐसा कुछ (नियतिवादी) कहते हैं ।
३१. एवमेयाणि जंपंता वाला पंडियमाणिणो । णिययाणिययं संतं अयाणंता अबुद्धिया ॥	इस प्रकार कहने वाले मूढ़/अज्ञानी होते हुए भी स्वयं को पंडित मानते हैं । वे अज्ञ नहीं जानते कि कुछ सुख-दुःख नियत होते हैं और कुछ अनियत ।
३२. एवमेगे उ पासत्था ते भुज्जो विप्पगब्भिया । एवं उ वट्ठिया संता णत्ते दुक्खविमोक्खया ॥	इस प्रकार कुछ पार्श्वस्थ—नियतिवादी धृष्टता करते हैं । वे साधना पथ पर उपस्थित होकर भी स्वयं को दुःख से मुक्त नहीं कर सकते ।
३३. जविणो मिगा जहा संता परिताणेण तज्जिया । असंकियाइं संकंति संकियाइं असंकिणो ॥	जैसे वेगगामी मृग परितान से भयभीत और शान्त होकर अशंकित के प्रति शंका करते हैं और शंकित के प्रति अशंकी रहते हैं ।
३४. परियाणियाणि संकंता पासियाणि असंकिणो । अण्णाणभयसंविग्गा संपलिंति तहिं तहिं ॥	वे मृगजाल के प्रति शंकास्पद और बन्धन के प्रति निःशंक होते हैं । वे अज्ञान और भय से उद्विग्न होकर इधर-उधर दौड़ते हैं ।

३५. अह तं पवेज्ज वज्झं अहे वज्झस्स वा वए । मुच्चेज्ज पयपासाओ तं तु मंदो ण देहइ ।।	यदि वे मृग छलांग भरते हुए उस बन्धन को लांघ जाएँ या उसके नीचे से निकल जाये, तो वे पद-पाश से मुक्त हो सकते है, किन्तु वे मंदमति उसे देख नहीं पाते ।
३६. अहियप्पाऽहियपण्णाणे विसमंतेणुवागए । स बद्धे पयपासाइं तत्थ घायं णियच्छइ ।।	वे अहितात्मा और हितप्रज्ञाशून्य मृग पाश/बन्धन-युक्त मार्ग से जाते हैं और उस बन्धन में बंधकर मृत्यु प्राप्त करते हैं ।
३७. एवं तु समणा एगे मिच्छदिट्ठी अणारिया । असंकियाइं संकंति संकियाइं असंकिणो ।।	इस प्रकार कई मिथ्या-दृष्टि अनार्य श्रमण अशंकनीय के प्रति शंका करते हैं और शंकनीय के प्रति निःशंक रहते हैं ।
३८. धम्मपण्णवणा जा सा तं तु संकंति मूढगा । आरंभाइं ण संकंति अवियत्ता अकोविया ।।	वे मूढ़ अव्यक्त और अकोविद श्रमण धर्म के ज्ञापन में शंका करते हैं, किन्तु आरम्भों (हिंसाजन्य वृत्तियों) में शंका नहीं करते है ।
३९. सव्वप्पगं विउक्कस्सं सव्वं णूमं विहूणिया । अप्पत्तियं अकम्मंसे एयमट्ठं मिगे चुए ।।	सर्वात्मक (लोभ), व्युत्कर्ष (अभिमान), णूम (माया), अप्रीतिक (क्रोध) को नष्टकर जीव अकर्मांश हो जाता है, किन्तु मृग के समान अज्ञानी इस अर्थ (सत्य) को त्याग देता है ।
४०. जे एयं णाभिजाणंति मिच्छदिट्ठी अणारिया । मिगा वा पासबद्धा ते घायमेसंतऽणंतसो ।।	जो मिथ्यादृष्टि अनार्य पुरुष इस तथ्य को नहीं जानते, वे पाश-बद्ध मृग की तरह अनन्त बार नष्ट होते हैं ।

४१. माहणा समणा एगे सव्वे णाणं सयं वए । सव्वलोगे वि जे पाणा ण ते जाणंति किंचणं ॥	कुछेक ब्राह्मण और श्रमण अपने ज्ञान को सत्य कहते हैं। उनके अनुसार सम्पूर्ण लोक में उनके मत से जो भिन्न प्राणी हैं, वे कुछ भी नहीं जानते हैं।
४२. मिलक्खू अमिलक्खुस्स जहा वुत्ताणुभासए । ण हेउं से वियाणाइ भासियं तऽणुभासए ॥	जैसे म्लेच्छ अम्लेच्छ की बातें करता है, किन्तु उसके हेतु को नहीं जानता, मात्र कथित का कथन करता है।
४३. एवमण्णाणिया णाणं वयंता वि सयं सयं । णिच्छयत्थं ण जाणंति मिलक्खु व्व अबोहिया ॥	इसी प्रकार अज्ञानी (पूर्ण ज्ञान रहित) अपने-अपने ज्ञान को कहते हुए भी निश्चयार्थ को नहीं जानते। वे म्लेच्छ की तरह अबोधिक होते हैं।
४४. अण्णाणियाण वीमंसा अण्णाणे ण णियच्छइ । अप्पणो य परं णालं कतो अण्णाणुसासिउं ? ॥	अज्ञानिकों का विमर्श अज्ञान में निश्चय नहीं करा सकता है। जब वे अपने आप पर अनुशासन नहीं कर पाते, तब दूसरों को कैसे अनुशासित कर सकते हैं ?
४५. वणे मूढे जहा जंतू मूढणेयाणुगामिए । दो वि एए अकोविया तिव्वं सोयं णियच्छई ॥	जैसे वन में दिग्भ्रमित पुरुष यदि दिग्भ्रमित नेता का ही अनुगमन करता है, तो वे दोनों अकोविद होने के कारण तीव्र स्रोत, जंगल में चले जाते हैं।
४६. अंधो अंधं पहं णिंतो दूरमद्धाणं गच्छइ । आवज्जे उप्पहं जंतू अदुआ पंथाणुगामिए ॥	अन्धा अन्धे को पथ पर ले जाता हुआ या तो दूर ले जाता है या उत्पथ पर चला जाता है अथवा अन्य पथ का अनुगमन कर लेता है।

४७. एवमेगे णियागट्ठी
धम्ममाराहगा वयं ।
अदुआ अहम्ममावज्जे
ण ते सव्वज्जुयं वए ॥

इसी प्रकार कुछ नियागार्थी/मोक्षार्थी कहते तो हैं कि हम धर्म के आराधक हैं, किन्तु वे अधर्म का सेवन करते हैं। वे सर्व-ऋजु-मार्ग पर नही चलते।

४८. एवमेगे वियक्काहिं
णो अण्णं पज्जुवासिया ।
अप्पणो य वियक्काहिं
अयमंजूहि दुम्मई ॥

कुछ लोग वितर्कों के कारण किसी अन्य की पर्युपासना नहीं करते। वे दुर्मति अपने वितर्कों के कारण कहते है— यह मार्ग ही ऋजु है।

४९. एवं तक्काए साहिंता
धम्माधम्मे अकोविया ।
दुक्खं ते णाइवट्टंति
सउणी पंजरं जहा ॥

इस प्रकार अकोविद-पुरुष धर्म और अधर्म को तर्क से सिद्ध करते है। वे दुःखों से वैसे ही नहीं छूट पाते जैसे पिंजरे से पक्षी।

५०. सयं सयं पसंसंता
गरहंता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्संति
संसारं ते विउस्सिया ॥

अपने-अपने वचन की प्रशंसा और दूसरे के वचन की गर्हा/निन्दा करते हुए जो उछलते हैं, वे संसार को बढ़ाते हैं।

५१. अहावरं पुरक्खायं
किरियावाइदरिसणं ।
कम्मचिंतापणट्ठाणं
संसारस्स पवड्ढणं ॥

अब इसके बाद क्रियावादी दर्शन है, जो पूर्व कथित है। कर्म-चिन्तन नष्ट करने के कारण यह संसार-प्रवर्धक है।

५२. जाणं काएणऽणाउट्टी
अबुहो जं च हिंसइ ।
पुट्ठो संवेदइ परं
अवियत्तं खु सावज्जं ॥

जो जानते हुए शरीर से किसी को नहीं मारता है या अबुध/अनजान में हिंसा कर देता है, वह अव्यक्त/सूक्ष्म सावद्य कर्म का स्पर्श कर संवेदन अवश्य करता है।

५३. संतिमे तओो आयाणा
जेहिं कीरइ पावगं ।
अभिकम्मा य पेसा य
मणसा अणुजाणिया ।।

ये तीन आदान/आगमन-द्वार हैं, जिनसे पाप की क्रिया होती है। १. अभि-क्रम्य—स्वयं कृत प्रयत्न/आक्रमण से, २. प्रेष्य—अन्य सहयोग से और ३. मन-अनुज्ञा—वैचारिक अनुमोदन से।

५४. एए उ तओो आयाणा
जेहिं कीरइ पावगं ।
एवं भावविसोहीए
णिव्वाणमभिगच्छइ ।।

ये तीन आदान हैं, जिनसे पाप किया जाता है। निर्वाण भाव-विशुद्धि से प्राप्त होता है।

५५. पुत्तं पिता समारंभ
आहारट्ठं असंजए ।
भुंजमाणो वि मेहावी
कम्मुणा णोवलिप्पते ।।

असंयत पिता आहार के लिए पुत्र की हिंसा करता है, किन्तु मेघावी पुरुष उसका उपभोग करते हुए भी कर्म से लिप्त नहीं होता।

५६. मणसा जे पउस्संति
चित्तं तेसिं ण विज्जइ ।
अणवज्जमतहं तेसिं
ण ते संवुडचारिणो ।।

जो मन से प्रदूषित हैं, उनके चित्त नहीं होता। वे संवृतचारी न होने के कारण अनवद्य और अतथ्य हैं।

५७. इच्चेयाहिं य दिट्ठीहिं
सायागारवणिस्सिया ।
सरणं ति मण्णमाणा
सेवंती पावगं जणा ।।

इन दृष्टियों को स्वीकार करने से वे सुख-गौरव-निश्रित हो जाते हैं। वे लोग इसी को शरण मानते हुए पाप का सेवन करते हैं।

५८. जहा आसाविणिं णावं
जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागंतुं
अंतराय विसीयई ।।

जैसे जन्मान्ध पुरुष आस्रविनी, सच्छिद्र नौका पर आरूढ़ हो कर पार पाना चाहता है, किन्तु उसे बीचच में ही विषाद करना पड़ता है।

५९. एवं तु समणा एगे
मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
संसारपारकंखी ते
संसारं अणुपरियट्टंति ॥

—त्ति बेमि ।

इसी प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण संसार का पार पाना चाहते हैं, किन्तु वे संसार में ही अनुपर्यटन करते हैं ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

तइओ उद्देसो

तृतीय उद्देशक

६०. जं किंचि उ पूइकडं
सड्ढी आगंतु ईहियं ।
सहस्संतरियं भुंजे
दुपक्खं चेव सेवई ॥

श्रद्धालु पुरुष आगंतुक भिक्षु की इच्छा/आतिथ्य-भावना से जो कुछ भी भोजन पकाता है, उसका हजार घरों के अन्तरित हो जाने पर भी उपभोग करना उभयपक्षों का ही सेवन है ।

६१. तमेव अवियाणंता
विसमंसि अकोविया ।
मच्छा वेसालिया चेवं
उदगस्सऽभियागमे ॥

वे अकोविद भिक्षु इस विषमता को नहीं जानते । विशाल-काय मत्स्य जल के किनारे आ जाते है ।

६२. उदगस्स पभावेणं
सुक्कं सिग्घं तमिंति उ ।
ढंकेहि य कंकेहि य
आमिसत्थेहिं ते दुही ॥

जल के कम हो जाने पर किनारा शीघ्र सूख जाता है । तब आमिषभोजी ध्वांक्ष और कंक पक्षियों द्वारा वे दुःखी होते है ।

६३. एवं तु समणा एगे
वट्टमाणसुहेसिणो ।
मच्छा वेसालिया चेव
घायमेसंतणंतसो ॥

वर्तमान सुख के अभिलाषी कुछ श्रमण भी इसी प्रकार विशालकाय मत्स्यों के समान अनन्तबार मृत्यु की एषणा है ।

६४. इणमण्णं तु अण्णाणं इहमेगेसिमाहियं । देवउत्ते अयं लोए बंभउत्ते त्ति आवरे ।।	यह तो एक अज्ञान है । कुछ दार्शनिक यह कहते हैं कि यह लोक देव उत्पादित है तो कुछ कहते हैं ब्रह्मा द्वारा उत्पादित है ।
६५. ईसरेण कडे लोए पहाणाइ तहावरे । जीवाजीवसमाउत्ते सुहदुक्खसमण्णिए ।।	कुछ कहते हैं— जीव-अजीव से युक्त तथा सुख-दुःख से सम्पृक्त यह लोक ईश्वर-कृत है । कुछ अन्य प्रधान/प्रकृति कृत कहते हैं ।
६६. सयंभुणा कडे लोए इइ वुत्तं महेसिणा । मारेण संथुया माया तेण लोए असासए ।।	अथवा लोक स्वयम्भू कृत है ऐसा महर्षि ने कहा है । उसने मृत्यु से माया विस्तृत की, अतः लोक अशाश्वत है ।
६७. माहणा समणा एगे आह अंडकडे जगे । असो तत्तमकासी य अयाणंता मुसं वए ।।	कुछ ब्राह्मण और श्रमण कहते हैं जगत् अंडकृत–अंडे से उत्पन्न है । उस से ही तत्त्वों की रचना हुई है, जो इसे नहीं जानते, वे मृषा बोलते हैं ।
६८. सएहिं परियाएहिं लोगं बूया कडे त्ति य । तत्तं ते ण वियाणंति ण विणासी कयाइ वि ।।	लोक अपनी पर्यायों से कृत है— यह कहना चाहिये । वे तत्त्व को नहीं जानते हैं क्योंकि यह लोक कभी विनाशी नहीं है ।
६९. अमणुण्णसमुप्पायं दुक्खमेव विजाणिया । समुप्पायमजाणंता कहं णायंति संवरं ।।	दुःख अमनोज्ञ की निष्पत्ति है, यह जानना चाहिये । जो उत्पत्ति को नहीं जानते हैं, वे संवर/निरोध को कैसे जानेंगे ?

७०. सुद्धे अपावए आया
इहमेगेसिमाहियं ।
पुणो कीडापदोसेणं
से तत्थ अवरज्झई ॥

कुछ वादियों ने कहा कि आत्मा शुद्ध अपापक—पाप रहित है, किन्तु क्रीड़ा और प्रद्वेष के कारण वही अपराध करती है।

७१. इह संवुडे मुणी जाए
पच्छा होइ अपावए ।
वियडं व जहा भुज्जो
णीरयं सरयं तहा ॥

यह मनुष्य संवृत मुनि होता है, बाद में अपापक होता है। जैसे विकट जल ही रजसहित और रजरहित हो जाता है।

७२. एयाणुवीइ मेहावी
बंभचेरेण तं वसे ।
पुढो पावाउया सव्वे
अक्खायारो सयं सयं ॥

मेधावी पुरुष इन वादों का अनुचिंतन/विवेचन करके ब्रह्मचर्य में वास करे। सभी प्रावादुक पृथक्-पृथक् हैं और वे वादों का आख्यान करते हैं।

७३. सए सए उवट्ठाणे
सिद्धिमेव ण अण्णहा ।
अहो इहेव वसवत्ती
सव्वकामसमप्पिए ॥

[वे कहते हैं—] अपने-अपने उपस्थान/सम्प्रदायमान्य अनुष्ठान से ही सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। वशवर्ती-पुरुष के अधोजगत् में भी सर्व काम समर्पित/पूर्ण हो जाते हैं।

७४. सिद्धा य ते अरोगा य
इहमेगेसिमाहियं ।
सिद्धिमेव पुरोकाउं
सासए गढिया णरा ॥

कुछ वादी कहते हैं, वे [जन्मजात] सिद्ध और निरोगी हो जाते हैं। इस तरह सिद्धि को ही प्रमुख मानकर वे अपने आशय में ग्रथित/आबद्ध हैं।

७५. असंवुडा अणादीयं
भमिहिंति पुणो-पुणो ।
कप्पकालमुवज्जंति
ठाणा आसुरकिब्बिसिया ॥

वे असंवृत मनुष्य इस अनादि संसार में बार-बार भ्रमण करेंगे। वे कल्प परिमित काल तक आसुर एवं किल्विषिक स्थानों में उत्पन्न होते हैं।

—त्ति बेमि ।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

चउत्थो उद्देसो

चतुर्थ उद्देशक

७६. एए जिया भो ! ण सरणं
बाला पंडियमाणिणो ।
हिच्चा णं पुव्वसंजोगं
सिया किच्चोवएसगा ॥

हे मुने ! बाल-पुरुष स्वयं को पंडित मानते हुए विजयी होने पर भी शरण नहीं हैं । वे पूर्व संयोगों को छोड़कर भी कृत्यों (गृहस्थ-धर्म) के उपदेशक हैं ।

७७. तं च भिक्खू परिण्णाय
विज्जं तेसु ण मुच्छए ।
अणुक्कस्से अप्पलीणे
मज्झेण मुणि जावए ॥

विद्वान् भिक्षु उनके मत को जानकर उनमें मूर्च्छा न करे । अनुत्कर्ष और अल्पलीन मुनि मध्यस्थ-भाव (समत्व-भाव/तटस्थभाव)से जीवन-यापन करे ।

७८. सपरिग्गहा य सारंभा
इहमेगेसिमाहियं ।
अपरिग्गहा अणारंभा
भिक्खू ताणं परिव्वए ॥

कुछ दार्शनिकों ने कहा है कि परिग्रह और हिंसा करते हुए भी मुनि हो सकते हैं, किन्तु ज्ञानी भिक्षु अपरिग्रह और अनारम्भ को भिक्षुधर्म जान कर परिव्रजन करे ।

७९. कडेसु घासमेसेज्जा
विऊ दत्तेसणं चरे ।
अगिद्धो विप्पमुक्को य
ओमाणं परिवज्जए ॥

विद्वान मुनि गृहस्थ-कृत आहार की एषणा/याचना करे और प्रदत्त आहार को ग्रहण करे । वह आहार में अगृद्ध और विप्रमुक्त/निर्लोभी होकर अवमान का परिवर्जन करे ।

८०. लोगवायं णिसामेज्जा
इहमेगेसिमाहियं ।
विवरीय-पण्णसंभूयं
अण्णवुत्तं-तयाणुयं ॥

कुछ दर्शनों में कहा गया है कि लोक-वाद सुनना चाहिए, किन्तु वह विपरीत बुद्धि से उत्पन्न है एवं दूसरों द्वारा कथित बात का अनुगमन मात्र है ।

८१. अणंते णिइए लोए
सासए ण विणस्सई ।
अंतवं णिइए लोए
इइ धीरोऽतिपासई ।।

[कुछ कहते हैं–] लोक नित्य, शाश्वत और अविनाशी है। अतः अनन्त है, पर धीर-पुरुष नित्य लोक को अन्तवान् देखता है।

८२. अपरिमाणं वियाणाइ
इहमेगेसि आहियं ।
सव्वत्थ सपरिमाणं
इइ धीरोऽतिपासई ।।

कुछ लोगों ने कहा है कि लोक अपरिमित जाना जाता है, लेकिन धीर-पुरुष उसे परिमित देखता/जानता है।

८३. जे केइ तसा पाणा
चिट्ठंति अदु थावरा ।
परियाए अत्थि से अंजू
जेण ते तसथावरा ।।

इस लोक में त्रस अथवा स्थावर जितने भी प्राणी हैं, यह उनकी पर्याय है। जिससे प्राणी कभी त्रस और कभी स्थावर होते हैं।

८४. उरालं जगतो जोगं
विवज्जासं पलेंति य ।
सव्वे अकंतदुक्खा य
अओ सव्वे अहिंसया ।।

जगत् में योग/अवस्था उदार है, किन्तु विपर्यास में प्रलीन हो अवस्थाएँ इंद्रिय प्रत्यक्ष हैं। सभी प्राणी दुःख से आक्रांत हैं। इसलिए सभी अहिंस्य हैं।

८५. एयं खु णाणिणो सारं
जं ण हिंसइ कंचणं ।
अहिंसा समयं चेव
एयावंतं वियाणिया ।।

ज्ञानी होने का सार यही है कि वह किसी की हिंसा न करे। समता ही अहिंसा है। इतना ही उसे जानना चाहिए।

८६. वुसिए य विगयगेही
आयाणं सम्मरक्खए ।
चरियासणसेज्जासु
भत्तपाणे य अंतसो ।।

वह व्युषित/निर्मल रहे, गृद्धिमुक्त बने, आत्मा का संरक्षण करे। चर्या, आसन, शय्या और आहार-पानी के सम्बन्ध में जीवन-पर्यन्त [प्रयत्नशील रहे।]

८७. एएहिं तिहिं ठाणेहिं
संजए सययं मुणी ।
उक्कसं जलणं णूम-
मज्झत्थं च विगिंचए ॥

मुनि [चर्या, आसन-शयन एवं भक्त-पान] इन तीन स्थानों में सतत संयत रहे। वह उत्कर्ष/मान, ज्वलन/क्रोध, णूम/माया, अध्यस्थ/लोभ का परिहार करे।

८८. समिए उ सया साहू
पंच-संवर-संवुडे ।
सिएहिं असिए भिक्खू
आमोक्खाय परिव्वएज्जासि ॥

साधु समितियों से संयुक्त, पाँच संवरों से संवृत/सुरक्षित, आबद्ध पुरुषों में अप्रतिबद्ध होकर अन्तिम समय तक मोक्ष के लिए परिव्रजन करे।

—त्ति बेमि ।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

बीअं अज्झयणं

वेयालिए

द्वितीय अध्ययन

वैतालीय

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन अर्हत् द्वारा प्रवेदित अनुशासन का एक दस्तावेज है। यह अनुशासन उन लोगों के लिए उपादेय है, जो जीवन की समस्याओं के पशोपेश में फँसे हुए हैं। व्यक्ति को संसार की संसरणशीलता, असारता और शोकाकुलता का बोध कराते हुए उसके जीवन को वैराग्य से सुवासित और सम्बोधि से पुष्पित कर चिर समाधि प्रदान करना, यही इस अध्ययन का अन्तरङ्ग है।

वस्तुतः मनुष्य की भोगेच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त हैं। व्यक्ति चाहे जितने पदार्थो का उपभोग करले, किन्तु पदार्थों के उपभोग से भोगेच्छा को उपशांत नहीं किया जा सकता। यदि वह स्वर्ण और रजत के असंख्य शैल-शिखर भी प्राप्त कर ले, तब भी मनुष्य-मन की तृष्णा बुझ कहाँ पाती है? मन की प्रवृत्तियों पर विजय पाने के लिए अहङ्कार का विसर्जन, तृष्णा का बोधन और माया एवं लोभ का परिशमन अनिवार्य है।

अन्तरङ्ग को 'वैतालीय'/राक्षसी-वृत्तियों से रिक्त कर उसमें सद्‌विचारिता, विमलता एवं दिव्यता की प्राण-प्रतिष्ठा होने पर ही समाधि का स्वर्णिम सूर्योदय होता है। इस प्रभात को प्रकट करने के लिए जिन बाधाओं को लांघना पड़ता है और जिन सहयोगी-तत्त्वों को अपनाना पड़ता है, प्रस्तुत अध्याय उसी का एक क्रमिक दिग्दर्शन है। इसमें उन छिहत्तर गाथाओं का संगान है, जिन्हें सुनकर ऋषभ-पुत्रों ने संसार की निःसारता को समझा, विषय-भोगो की कटु-विपाकता को जाना, जीवन की चंचलता का बोध प्राप्त किया, अर्हत् के अनुशासन को स्वीकार किया। उनके पाँव अँगड़ाई लेने लगे उस शाश्वतता की ओर, जहाँ सुख-दुःख की आँख-मिचौनी के खेल नहीं खेले जाते। ये सारी गाथाएँ उनके लिए उस अन्तिम क्षण तक संजीवन बनी रहीं, जब तक वे कैवल्य की आभा से अभिमण्डित नहीं हुए।

प्रस्तुत अध्याय भगवान् का परिषद् को सम्बोधन है सम्बोधि प्राप्त करने के लिए। इसका अनुचिन्तन अर्हत्-महावीथि पर कदम बढ़ाने के लिए प्रथम और सफल पहल है।

पढमो उद्देसो	प्रथम उद्देशक
१. संबुज्झह किण बुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहा । णो हूवणमंति राइओ णो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥	सम्बोधि प्राप्त करो। बोध क्यों नहीं प्राप्त करते ? परलोक में सम्बोधि दुर्लभ है । बीती हुई रात्रियाँ लौटकर नहीं आती । मनुष्य जीवन पुनः सुलभ नहीं है ।
२. डहरा बुड्ढा य पासह गब्भत्था वि चयंति माणवा । सेणे जह वट्टयं हरे एवं आउक्खयंमि तुट्टई ॥	देखो ! बालक, वृद्ध और गर्भस्थ शिशु भी जीवनच्युत हो जाते हैं । जैसे बाज बटेर का हरण कर लेता है, वैसे ही आयु क्षय हो जाने पर जीवन-सूत्र टूट जाता है ।
३. मायाहिं पियाहिं लुप्पई णो सुलहा सुगई य पेच्चओ । एयाइं भयाइं देहिया आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ॥	वह कदाचित माता-पिता से पहले ही मर जाता है । परलोक में सुगति सुलभ नहीं होती है । इन भय-स्थलों को देख कर व्रती पुरुष हिंसा से विराम ले ।
४. जमिणं जगई पुढो जगा कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो । सयमेव कडेहिं गाहई णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठवं ॥	इस जगत में सभी जन्तु/जीव अलग-अलग हैं । वे प्राणी कर्मों के कारण है । वे स्वकृत क्रियाओं के द्वारा कर्म ग्रहण करते हैं । वे कर्मों का फल स्पर्श किए बिना छूट नहीं सकते ।
५. देवा गंधव्वरक्खसा असुरा भूमिचरा सरीसिवा । राया णरसेट्ठिमाहणा ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया ॥	देवता, गन्धर्व, राक्षस, असुर, भूमिचर, सरीसृप (साँप), राजा, नगर-श्रेष्ठि और ब्राह्मण—ये सभी दुःख-पूर्वक अपने स्थानों से च्युत होते हैं ।

६. कामेहिं य संथवेहिं य
कम्मसहा कालेण जंतवो ।
ताले जह बंधणच्चुए
एवं आउखयम्मि तुट्टई ।।

मृत्यु आने पर प्राणी काम-भोग और सम्बन्धों को तोड़कर कर्म सहित चले जाते हैं। आयुष्य क्षय होने पर वे ताड़ फल की तरह टूटकर गिर जाते हैं।

७. जे यावि बहुस्सुए सिया
धम्मिय माहणभिक्खुए सिया ।
अभिणूमकडेहिं मुच्छिए
तिव्वं ते कम्मेहिं किच्चई ।।

यदि कोई बहुश्रुत/शास्त्र-पारगामी हो या धार्मिक ब्राह्मण हो या भिक्षु, यदि वह मायामय-कृत्यों में मूर्छित होता है तो वह कर्मों द्वारा तीव्र पीड़ा प्राप्त करता है।

८. अह पास विवेगमुट्ठिए
अवितिण्णे इह भासई धुवं ।
णाहिसि आरं कओ परं ?
वेहासे कम्मेहिं किच्चई ।

देख ! सच्चा साधक विवेक में उपस्थित होकर, संयम में अवतरित होकर ध्रुव का भाषण करता है। कर्मो को छोड़-कर कृत्य करता है, तो परम-लोक को कैसे नहीं जान पाएगा ?

९. जइ वि य णिगणे किसे चरे
जइवि य भुंजिय मासमंतसो ।
जे इह मायाइ मिज्जइ
आगंता गब्भायणंतसो ।।

यद्यपि वह नग्न एवं कृश होकर विचरण करता है, मास-मास के अन्त में भोजन करता है, तथापि वह माया आदि से आपूर्ण होने के कारण अनंत वार गर्भ में आता-जाता रहता है।

१०. पुरिसोरम पावकम्मुणा
पलियंतं मणुयाण जीवियं ।
सण्णा इह काममुच्छिया
मोहं जंति णरा असंवुडा ।।

हे पुरुष ! मनुष्य-जीवन के अन्त तक पाप-कर्म से उपरत रह। यहाँ आसक्त तथा काम-मूर्छित, असंस्कृत-पुरुष मोह को प्राप्त होते है।

११. जययं विहराहि जोगवं
अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा ।
अणुसासणमेव पक्कमे
वीरेहिं सम्मं पवेइयं ।।

हे योगी ! तू यतन करता हुआ विचरण कर। मार्ग सूक्ष्म-प्राणियों से अनुप्राणित है। तू महावीर द्वारा सम्यक्-प्ररूपित अनुशासन में पराक्रम कर।

१२. विरया वीरा समुट्ठिया
कोहाकायरियाइपीसणा ।
पाणे ण हणंति सव्वसो
पावाओ विरयाऽभिणिव्वुडा ॥

वीर, संयम-उद्यत, विरत क्रोधादि-कषाय-नाशक, पाप से विरत अभिनिवृत्त पुरुष किसी भी प्राणी का घात नहीं करता।

१३. णवि ता अहमेव लुप्पए
लुप्पंती लोयंसि पाणिणो ।
एवं सहिएहिं पासए
अणिहे से पुट्ठेऽहियासए ॥

इस संसार में केवल मैं ही लुप्त नहीं होता, अपितु लोक में दूसरे प्राणी भी लुप्त होते हैं। इस प्रकार साधक आत्मौपम्य-सहित देखता है। लोप/पीड़ा स्पर्श होने पर डरे नहीं, सहन करे।

१४. धुणिया कुलियं व लेववं
कसए देहमणसणाइह ।
अविहिंसामेव पव्वए
अणुधम्मो मुणिणा पवेइओ ॥

साधक कर्म-लेप को धुने। देह को अनशन/उपवासादि से कृश करे। अहिंसा में प्रव्रजन करे। यही श्रमण महावीर द्वारा प्ररूपित अनुधर्म है।

१५. सउणी जह पंसुगुंडिया
विहुणिय धंसयई सियं रयं ।
एवं दविओवहाणवं
कम्मं खवइ तवस्सि माहणे ॥

जैसे पक्षिणी धूल से अनुगुण्ठित होने पर अपने को कंपित कर धूल को झाड़ देती है, वैसे ही द्रव्य उपधानवान तपस्वी ब्राह्मण कर्मों को क्षीण करता है।

१६. उट्ठियमणगारमेसणं
समणं ठाणठियं तवस्सिणं ।
डहरा वुड्ढा य पत्थए
अवि सुस्से ण य तं लभेज्जणो ॥

अनगारत्व की एषणा के लिए उपस्थित एवं श्रमणोचित स्थान में स्थित तपस्वी पुरुष को चाहे बच्चे और बूढ़े सभी प्रार्थना कर लें, किन्तु वे उसे गृहस्थ-जीवन में वापस नहीं बुला सकते।

१७. जइ कालुणियाणि कासिया
जइ रोयंति य पुत्तकारणा ।
दवियं भिक्खुं समुट्ठियं
णो लब्भंति णं सण्णवित्तए ॥

यदि वे उस श्रमण के समक्ष करुण विलाप कर आकर्षित करना चाहे, तो भी वे साधना में उद्यत उस भिक्षु को समझाकर गृहस्थ में नहीं ले सकते।

१८. जइवि य कामेहि लाविया
जइ णेज्जाहि ण बंधिउं घरं ।
जइ जीविय णावकंखए
णो लब्भंति ण सण्णवेत्तए ॥

चाहे वे उस श्रमण को काम-भोगों के लिए आमंत्रित करे या बाँधकर घर ले आए, पर जो जीवन की इच्छा नहीं करता उसे वे समझा-बुझाकर गृहस्थ में नहीं ले जा सकते हैं।

१९. सेहंति य णं ममाइणो
माय पिया य सुया य भारिया ।
पोसाहि णे पासओ तुमं
लोगं परं पि जहासि पोसणो ॥

ममत्व दिखाने वाले उसके माता-पिता और पुत्री-पत्नी आदि सभी श्रमण को शिक्षा देते हैं—तुम पश्यक/दूरदर्शी हो, अतः हमारा पोषण करो, अन्यथा परलोक का पोषण कैसे होगा ?

२०. अण्णे अण्णेहिं मुच्छिया
मोहं जंति णरा असंवुडा ।
विसमं विसमेहि गाहिया
ते पावेहिं पुणो पगब्भिया ॥

अन्य पुरुष अन्य में मूर्छित होते हैं। वे असंस्कृत-पुरुष मोह को प्राप्त करते हैं। विषम को ग्रहण करने वाले पुनः पाप को संचय करते हैं।

२१. तम्हा दवि इक्ख पंडिए
पावाओ विरएभिणिव्वुडे ।
पणए वीरे महाविहिं
सिद्धिपहं णेयाउयं धुवं ॥

इसलिए पंडित अभिनिवृत-पुरुष-साधक पाप-कर्म से विरत बने। इस विषमता को देखकर वीर पुरुष ध्रुव की यात्रा कराने वाले महापथ-सिद्धिपथ पर प्रणत होते हैं।

२२. वेयालियमग्गमागओ
मणवयसा काएण संवुडो ।
चिच्चा वित्तं च णायओ
आरंभं च सुसंवुडे चरे ॥

मन-वचन-काया से संवृत-पुरुष वैतालीय मार्ग पर उपस्थित रहे। धन, स्वजन और हिंसा का त्याग करे। सुसंस्कृत होकर विचरण करे।

—त्ति बेमि ।

ऐसा मैं कहता हूँ।

बीओ उद्देसो	द्वितीय उद्देशक
२३. तयसं व जहाइ से रयं इह संखाय मुणी ण मज्जई । गोयण्णतरेण माहणे अहऽसेयकरी अण्णेसि इंखिणी ॥	मुनि रज/मल सहित त्वचा/काया के स्वामित्व का त्याग करता है। यह सोचकर मुनि मद न करे। ब्राह्मण द्वारा अन्य गोत्रों की उपेक्षा-मूलक आकांक्षा अश्रेयस्कर है।
२४. जो परिभवइ परं जणं संसारे परिवत्तई महं । अदु इंखिणिया उ पाविया इइ संखाय मुणी ण मज्जई ॥	जो दूसरे लोगों को पराभूत करता है, वह संसार में महत्-परिभ्रमण करता है। पराभव की आकांक्षा पाप-जनक है। यह जानकर मुनि मद न करे।
२५. जे यावि अणायगे सिया जे वि य पेसगपेसए सिया । इयं मोणपयं उवट्ठिए णो लज्जे समयं सया चरे ॥	चाहे कोई अधिपति हो या अनायक/भृत्य, इस मौन-पद/मुनि-पद में उपस्थित होने के बाद लज्जा न करे। सदैव समता-पूर्वक विचरण करे।
२६. सम अण्णयरम्मि संजमे संसुद्धे समणे परिव्वए । जा आवकहा समाहिए दविए कालमकासि पंडिए ॥	संशुद्ध-श्रमण संयम में स्थित रहकर अहङ्कार-शून्य होकर समता में परिव्रजन करता है। समाहित-पंडित मृत्यु-काल तक संयमाराधन करता है।
२७. दूरं अणुपस्सिया मुणी तीयं धम्ममणागयं तहा । पुट्ठे फरुसेहिं माहणे अवि हण्णू समयंसि रीयइ ॥	दूरदृष्टि-मुनि अतीत और अनागत-धर्म का अनुपश्यी है। माहण (ज्ञानी) कठोर वचनों से आहत होने पर समय/समत्व में रत रहता है।

२८. पण्णसमत्ते सया जए समयाधम्ममुदाहरे मुणी । सुहमे उ सया अलूसए णो कुज्झे णो माणि माहणे ।।	प्रज्ञावान-मुनि सदा समता-धर्म का उपदेश दे। सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी न तो कभी क्रोध करे, न मान करे।
२९. वहुजणणमणम्मि संवुडे सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिए । हरए व सया अणाविले धम्मं पादुरकासि कासवं ।।	जो वहुजन नमन के लिए सभी अर्थों/विषयों से अनिश्रित, सदा सरोवर की तरह स्वच्छ है, उसके लिए काश्यप-धर्म प्रकाशित किया है।
३०. वहवे पाणा पुढो सिया पत्तेयं समयं समीहिया । जे मोणपयं उवट्ठिए विरइं तत्थ अकासि पंडिए ।।	अनन्त-प्राणी पृथक्-पृथक् है। प्रत्येक प्राणी में समता है, जो मौन-पद (मुनि-पद) में स्थित है, वह पण्डित विरति का पालन करे—घात न करे।
३१. धम्मस्स य पारए मुणी आरंभस्स य अंतए ठिए । सोयंति य णं ममाइणो णो लब्भंती णियं परिग्गहं ।।	धर्म का पारगामी एवं आरम्भ/हिंसा के अंत में स्थित मुनि है,परन्तु ममत्व-युक्त- पुरुष शोक करते है, तथापि अपने परिग्रह को नहीं पाते है।
३२. इहलोगे दुहावहं विऊ परलोगे य दुहं दुहावहं । विद्धंसणधम्ममेव तं इह विज्जं को गारमावसे ? ।।	ज्ञानी को [परिग्रह] इस लोक में भी दुःखदायी और परलोक में भी दुःख-दायी हैं। ऐसा विध्वंसधर्मा ज्ञानी गृह-निवास कैसे कर सकता है?
३३. महयं पलिगोव जाणिया जावि य वंदणपूयणा इहं । सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे विउमंता पयहिज्ज संथवं ।।	महान् परिगोप (कीचड़) को जानकर भी जो वंदन-पूजन से सूक्ष्म शल्य को नहीं निकाल पाता है, उस ज्ञानी को संस्तव छोड़ देना चाहिए।

३४. एगे चरे ठाणमासणे सयणे एगे समाहिए सिया । भिक्खू उवहाणवीरिए वइगुत्ते अज्झत्थसंवुडो ॥	भिक्षु सदा वचन का संयम, मन का संवर एवं उपधान-वीर्य (तपो-वली) होकर एकाकी विचरण करे। कायोत्सर्ग, शयन एवं ध्यान अकेले ही करे।
३५. णो पीहे ण यावपंगुणे दारं सुण्णघरस्स संजए । पुट्ठे ण उदाहरे वयं ण समुच्छे णो संथरे तणं ॥	मुनि शून्य-गृह का द्वार बन्द न करे, न खोले। पूछने पर न बोले, घर का परिमार्जन न करे और न ही तृण-संस्तार करे।
३६. जत्थत्थमिए अणाउले समविसमाइं मुणीऽहियासए । चरगा अदुवा वि भेरवा अदुवा तत्थ सिरीसिवा सिया ॥	मुनि सूर्यास्त होने पर सम एवं विषम स्थान पर अनाकूल रहे। वहाँ चरक या रेंगने-वाले, भैरव या खून चूसने वाले, सरीसृप (सर्पादि) हो तो भी वहाँ रहे।
३७. तिरिया मणुया य दिव्वगा उवसग्गा तिविहाऽहियासए । लोमादीयं वि ण हरिसे सुण्णागारगओ महामुणी ॥	शून्य-गृह में स्थित महामुनि तिर्यक्, मनुज, दिव्यज—तीनों उपसर्गों को सहन करे। भय से रोमांचित न हो।
३८. णो अभिकंखेज्ज जीवियं णो वि य पूयणपत्थए सिया । अब्भत्थमुवेंति भेरवा सुण्णागारगयस्स भिक्खुणो ॥	वह भिक्षु जीवन का आकांक्षी न बने एवं न ही पूजन का प्रार्थी बने। शून्य-गृह में स्थित भिक्षु के भैरव आदि प्राणी अभ्यस्त/सह्य हो जाते है।
३९. उवणीयतरस्स ताइणो भयमाणस्स विविक्कमासणं । सामाइयमाहु तस्स जं जो अप्पाणं भए ण दंसए ॥	उपनीत (आत्मरत) चिन्तनशील, एकांत स्थान का सेवन करने वाले एवं भय से अविचलित रहने वाले साधु के सामायिक होती है।

४०. उसिणोदगतत्तभोइणो
धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो ।
संसग्गि असाहु राईहिं
असमाहि उ तहागयस्स वि ।।

गर्म-जल एवं गर्म-भोजन करने वाले, धर्म में स्थित एवं लज्जित मुनि के लिए राजा का संसर्ग अनुचित है। इससे तथागत भी असमाधि पाता है।

४१. अहिगरणकरस्स भिक्खुणो
वयमाणस्स पसज्झ दारुणं ।
अट्ठे परिहायई बहू
अहिगरणं ण करेज्ज पंडिए ।।

कलह करने वाले, तिरस्कारपूर्ण और कठोर-वचन बोलने वाले भिक्षु का बहु/परम अर्थ नष्ट हो जाता। इस-लिए पण्डित कलह न करे।

४२. सीओदग पडिदुगंछिणो
अपडिण्णस्स लवावसक्किणो ।
सामाइयमाहु तस्स जं
जो गिहिमत्तेऽसणं ण भुंजई ।।

शीतोदक (सचित्त-जल) से जुगुप्सा करने वाला, अप्रतिज्ञ, निष्काम-प्रवृत्ति से दूर और जो गृह-मत्त भोजन नहीं करे, उसके लिए सामायिक कथित है।

४३. ण य संखयमाहु जीवियं
तह वि य बालजणो पगब्भई ।
बाले पावेहिं मिज्जई
इइ संखाय मुणी ण मज्जई ।।

जीवन संस्कृत नहीं कहा गया है, तथापि अज्ञानी धृष्टता करता है। अज्ञ स्वयं को पाप से भरता जाता है, यह सोचकर मुनि मद नहीं करता है।

४४. छंदेण पलेइमा पया
बहुमाया मोहेण पाउडा ।
वियडेण पलिंति माहणे
सीउण्हं वयसाऽहियासए ।।

माया एवं मोह से आच्छादित प्रजा इच्छाओं के कारण सहजतः नष्ट होती है, किन्तु माहण-ज्ञानी कठिनाई से नष्ट होता है! वह शीतोष्ण-प्रशंसा, निन्दात्मक-वचन सहन करता है।

४५. कुजए अपराजिए जहा
अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं ।
कडमेव गहाय णो कलिं
णो तेयं णो चेव दावरं ।।

जैसे अपराजित जुआरी कुशल-पासों से जूआ खेलता हुआ कृत् [दाव] को ही स्वीकार करता है, कलि, त्रेता या द्वापर को नहीं।

४६. एवं लोगम्मि ताइणा
बुइए जे धम्मे अणुत्तरे ।
तं गिण्ह. हियं ति उत्तमं
कडमिव सेसऽवहाय पंडिए ॥

इसी प्रकार लोक में त्राता द्वारा जो अनुत्तर-धर्म कथित है उसे ग्रहण करे। पण्डित-पुरुष शेष को छोड़कर कृत को ही स्वीकारता है। यही हितकर है।

४७. उत्तर मणुयाण आहिया
गामधम्म इइ मे अणुस्सुयं ।
जंसी विरया समुट्ठिया
कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥

यह मेरे द्वारा अनुश्रुत है कि ग्राम-धर्म (मैथुन) सब विषयों में प्रधान कहा गया है। जिससे विरत पुरुष ही काश्यप-धर्म का आचरण करते हैं।

४८. जे एय चरंति आहियं
णाएण महया महेसिणा ।
ते उट्ठिय ते समुट्ठिया
अण्णोण्णं सारेंति धम्मओ ॥

जो महान् महर्षि, ज्ञाता, महावीर के कथित [धर्म] का आचरण करते हैं, वे उत्थित हैं, वे समुचित हैं, वे एक दूसरे को धर्म में प्रेरित करते हैं।

४९. मा पेह पुरा पणामए
अभिकंखे उवहिं धुणित्तए ।
जे दूवण ण ते हि णो णया
ते जाणंति समाहिमाहियं ॥

पूर्वकाल में भुक्त भोगों को मत देखो। उपधि को समाप्त करने की अभिकांक्षा करो। जो विषयों के प्रति नत नहीं हैं, वे समाधि को जानते हैं।

५०. णो काहिए होज्ज संजए
पासणिए ण य संपसारए ।
णच्चा धम्मं अणुत्तरं
कयकिरिए णयावि मामए ॥

संयत-पुरुष कायिक, प्राश्निक और सम्प्रसारक न बने। अनुत्तर धर्म को जानकर कृत्-कार्यों के प्रति ममत्व न करे।

५१. छण्णं च पसंस णो करे
ण य उक्कोस पगास माहणे ।
तेसिं सुविवेगमाहिए
पणया जेहिं सुजोसियं धुयं ॥

माहन/ज्ञानी-पुरुष अपने दोषों को न ढके, अपनी प्रशंसा न करे, उत्कर्ष प्रकाश न करे। संयम रखने वाले प्रणत-पुरुष को ही सुविवेक मिलता है।

५२. अणिहे सहिए सुसंवुडे धम्मट्ठी उवहाणवीरिए । विहरेज्ज समाहिइंदिए अत्तहिअ दुक्खेण लब्भइ ॥	मुनि अनासक्त,स्वहित, सुसंवृत,धर्मार्थी, उपधानवीर्य/तप-पराक्रमी एवं जितेंद्रिय होकर विचरण करे, क्योंकि आत्महित दुःख से प्राप्त होता है, दुःसाध्य है ।
५३. ण हि णूण पुरा अणुस्सुयं अदुवा तं तह णो समुट्ठियं । मुणिणा सामाइयाहियं णाएणं जगसव्वदंसिणा ॥	विश्व-सर्वदर्शी, ज्ञातक-मुनि महावीर ने सामायिक का प्रतिपादन किया है । वह न तो अनुश्रुत है, न ही अनुष्ठित है ।
५४. एवं मत्ता महंतरं धम्ममिणं सहिया बहू जणा । गुरुणो छंदाणुवत्तगा विरया तिण्ण महोघमाहियं ॥	इस प्रकार महान् अन्तर को जानकर, धर्म-सहित होकर, गुरु की भावना का अनुवर्तन कर कई विरत मनुष्यों ने इस संसार-समुद्र को पार किया है ।
—त्ति बेमि ।	—ऐसा मैं कहता हूँ ।

तइओ उद्देसो

तृतीय उद्देशक

५५. संवुडकम्मस्स भिक्खुणो जं दुक्खं पुट्ठं अवोहिए । तं संजमओऽवचिज्जई मरणं हेच्च वयंति पंडिया ॥	संवृत्तकर्मी भिक्षु के लिए अज्ञानता से जो दुःख स्पृष्ट होता है, वह संयम से क्षीण होता है । पंडित-पुरुष मरण को छोड़कर चले जाते हैं ।
५६. जे विण्णवणाहिऽजोसिया संतिण्णेहि समं वियाहिया । तम्हा उड्ढंति पासहा अद्दक्खू कामाइ रोगवं ॥	जो विज्ञापन से अनासक्त हैं, वे तीर्ण-पुरुष के समान कहे गए हैं । अतः ऊर्ध्व (मोक्ष) को देखो, काम को रोगवत् देखो ।

५७. अग्गं वणिएहिं आहियं
धारंती राईणिया इहं ।
एवं परमा महव्वया
अक्खाया उ सराइभोयणा ॥

जैसे वणिक् द्वारा आनीत उत्तम वस्तु को राजा ग्रहण करता है, वैसे ही संयमी रात्रि-भोजन-त्याग आदि परम महाव्रतों को धारण करते हैं ।

५८. जे इह सायाणुगा णरा
अज्झोववण्णा कामेहिं मुच्छिया ।
किवणेण समं पगब्भिया
ण वि जाणंति समाहिमाहियं ॥

जो सुखानुगामी अत्यासक्त, काम-भोग में मूर्च्छित और कृपण के समान धृष्ट हैं, वे प्रतिपादित समाधि को नहीं जान सकते ।

५९. वाहेण जहा व विच्छए
अबले होइ गवं पचोइए ।
से अंतसो अप्पथामए
णाईवहए अबले विसीयइ ॥

जैसे व्याधि से विक्षिप्त एवं प्रताड़ित बैल बलहीन हो जाता है, दुर्बल होकर भार वहन नहीं कर सकता, क्लेश पाता है ।

६०. एवं कामेसणं विऊ
अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं ।
कामी कामे ण कामए
लद्धे वा वि अलद्ध कण्हुई ॥

इसी तरह कामैषणा का ज्ञाता आज ही या कल संसर्ग/संस्तव को छोड़ दे । कामी होकर लभ्य-अलभ्य कामों की कामना न करे ।

६१. मा पच्छ असाहुया भवे
अच्चेही अणुसास अप्पगं ।
अहियं च असाहु सोयई
से थणई परिदेवई बहुं ॥

बाद में असाधुता न हो, इसलिए स्वयं को अनुशासित कर ले । जो असाधु होता है, वह अत्यधिक शोक, प्रकम्पन एवं विलाप करता है ।

६२. इह जीवियमेव पासहा
तरूण एव वासयस्स तुट्टई ।
इत्तरवासे व बुज्झहा
गिद्ध णरा कामेसु मुच्छिया ॥

इस लोक में जीवन को देखे । सौ वर्षायु युवावस्था में ही टूट जाता है । अतः जीवन को अल्पकालीन निवास के समान समझो । गृद्ध मनुष्य काम-भोगों में मूर्च्छित है ।

६३. जे इह आरंभणिस्सिया आयदंड एगंतलूसगा । गंता ते पावलोगयं चिररायं आसुरियं दिसं ॥	जो आरम्भ-निश्रित, आत्मदंडी, एकान्त-लुटेरे है, वे पाप-लोक में जाते हुए आसुरी-दिशा (नरक) में चिर-काल तक रहेंगे ।
६४. ण य संखयमाहु जीवियं तह वि य बालजणो पगब्भई । पच्चुप्पण्णेण कारियं के दट्ठुं परलोगमागए ? ॥	जीवन सुसंस्कृत नहीं कहा जा सकता, तथापि बाल-पुरुष प्रगल्मता करता है । वह कहता है मुझे वर्तमान से कार्य है, अनागत-परलोक को किसने देखा है ?
६५. अदक्खुव ! दक्खुवाहियं सद्दहसू अदक्खुदंसणा ! । हंदि ! हु सुणिरुद्धदंसणे मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥	हे अदृष्ट ! प्रत्यक्षदर्शी द्वारा प्ररूपित धर्म पर श्रद्धा करो । खेद है कि कृत-मोहनीय कर्म से दर्शन निरुद्ध होता है ।
६६. दुक्खी मोहे पुणो पुणो णिव्विदेज्ज सिलोगपूयं । एवं सहिएऽहिपासए आयतुलं पाणेहिं संजए ॥	मनुष्य मोहवश पुनः पुनः दुखी होता है । (अतः) साधक श्लाघा और पूजा से दूर रहे । सहिष्णु एवं संयमी समस्त प्राणियों पर आत्म-तुल्य बने ।
६७. गारं पि य आवसे णरे अणुपुव्वं पाणेहिं संजए । समया सव्वत्थ सुव्वए देवाणं गच्छे सलोगयं ॥	संयत-मनुष्य गृहस्थ में रहता हुआ भी क्रमशः समस्त प्राणियों पर समभाव-युक्त है, वह सुव्रती देवलोक को प्राप्त करता है ।
६८. सोच्चा भगवाणुसासणं सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं । सव्वत्थ विणीयमच्छरे उंछं भिक्खु विसुद्धमाहरे ॥	भगवान के अनुशासन/आज्ञा को सुन-कर सत्य का उपक्रम करे । भिक्षु सर्वत्र मात्सर्य-रहित होकर विशुद्ध वृत्ति/चर्या करे ।

६९. सव्वं णच्चा अहिट्ठए धम्मट्ठी उवहाणवीरिए । गुत्ते जुत्ते सया जए आयपरे परमायतट्ठिए ।।	धर्मार्थी वीर्य-उपधान/पराक्रम को सर्व-विध जानकर धारण करे । सदा गुप्तियुक्त यत्न करे । इसी से परम आत्मा में स्थिति होती है ।
७०. वित्तं पसवो य णाइओ तं बाले सरणं ति मण्णई । एए मम तेसि वा अहं णो ताणं सरणं ण विज्जई ।।	वित्त, पशु, ज्ञातिजन को अज्ञानी शरण मानता है । वे मेरे हैं या मैं उनका हूँ; ऐसा मानने पर भी वे न त्राण हैं, न शरण ।
७१. अब्भागमियम्मि वा दुहे अहवोवक्कमिए भवंतिए । एगस्स गई य आगई विदु मंता सरणं ण मण्णई ।।	दुःख कर्म-आगमन से या भव-उपक्रम होने पर होता है । जीव अकेला ही जाता-आता है । यह मान-कर विद्वान् किसी को शरण नहीं मानता ।
७२. सव्वे सयकम्मकप्पिया अवियत्तेण दुहेण पाणिणो । हिंडंति भयाउला सढा जाइजरामरणेहिऽभिद्दुया ।।	सभी प्राणी स्वयंकृत्कर्म से कल्पित हैं। अव्यक्त दुःख से भयाकुल शठ-पुरुष जाति-मरण के दुःखों से पीड़ित होता हुआ परिभ्रमण करता है ।
७३. इणमेव खणं वियाणिया णो सुलभं बोहिं च अहियं । एवं सहिएऽहिपासए आह जिणे इणमेव सेसगा ।।	इस क्षण को जानें । बोधि और आत्म-हित सुलभ नही है, ऐसा इन जिनेन्द्र ने और शेप जिनेन्द्रों ने भी कहा है ।
७४. अभविंसु पुरावि भिक्खुवो आएसावि भवंति सुव्वया । एयाइं गुणाइं आहुते कासवस्स अणुधम्मचारिणो ।।	हे भिक्षु! पूर्व मे सुव्रतों के लिए आदेश था, आगे भी आदेश होगा और अभी भी है । ये गुण काश्यप के धर्म का अनुचरण करने वालों के लिए कथित है ।

७५. तिविहेणवि पाण मा हणे आयहिए अणियाण संवुडे । एवं सिद्धा अणंतसो संहइ जे अ अणागयावरे ॥	त्रिविध योग से प्राणियों का हनन न करे। आत्महितेच्छु-पुरुष अनिदान एवं संवृत रूप है। सिद्ध इस समय भी अनन्त हैं और अनागत में भी होंगे।
७६. एवं से उदाहु अणुत्तरणाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरदंसणधरे। अरहा णायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ॥	इस प्रकार अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तरज्ञान-दर्शनधारी, अर्हन् ज्ञात-पुत्र भगवान ने वैशाली में कहा।
—त्ति बेमि	—ऐसा मैं कहता हूँ।

तइयं अज्झयणं

उवसग्ग-परिराणा

तृतीय अध्ययन

उपसर्ग-परिज्ञा

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'उपसर्ग-परिज्ञा' है। 'उपसर्ग-परिज्ञा' यथार्थतः उपद्रव-विजय है। प्रस्तुत अध्याय उपद्रव-विजय का मार्ग दर्शाता है।

उपसर्ग-परिज्ञा के साथी का नाम परीषह है। दोनों का साधना-क्षेत्र में विशेष स्थान है। दोनों का गुणात्मक डील-डौल भी साम्य है। उपद्रवों, कष्टों को बिना प्रतिकार किए सहन करने का नाम ही परीषह है। साधक के जीवन में दैहिक, भौतिक एवं दैविक बाधाएँ सम्भाव्य हैं। सहिष्णुता के बल पर ही साधक निर्बाध यात्रा कर सकता है। परीषह समस्या नहीं, अपितु कसौटी है। स्वयं के आत्मबल की परीक्षा करने का साधन परीषह ही है। परीषह, सहिष्णुता विरोधी का स्वागत है। किसी विरोधी की भी मुस्कराहट भरी अगवानी करना उसकी विरोधी भावनाओं को शर्मिंदा करना है। सहन करने में की जाने वाली आनाकानी संकल्प-शैथिल्य है।

साधना बीज है। साध्य का वृक्ष उसी बीज में समाहित है। बीज को वृक्षान्तरित करने के लिए माटी और पानी अनिवार्य है। किन्तु जितनी अनिवार्यता इनकी है, उतनी ही धूप की भी। बिना धूप के जल अभिसिंचित एवं माटी आश्रित बीज पल्लवित नहीं होगा, अपितु सड़ जाएगा। इसलिए धूप, बाधा, उपसर्ग की अनिवार्यता को साधक को अपनी प्रज्ञा से समझना चाहिये।

साधक कर्त्तव्य-पथ पर समर्पित व्यक्तित्व है। उत्थित पाँवों को अविचल बनाए रखना उसकी चित्त स्थिरता है और जीवन-मुक्ति का पहला सोपान चित्त-स्थिरता/स्थितप्रज्ञा ही है। अतः साधक का कर्त्तव्य है कि वह अपने मन को द्वन्द्वातीत रखे। न अनुकूल विषयों के प्रति राग करे और न प्रतिकूल विषयों के प्रति द्वेष। स्वयं को प्रतिपल/प्रतिपग समत्व में संस्थापित रखना ही साधना की सम्यक् अभिव्यक्ति है।

पढमो उद्देसो

प्रथम उद्देशक

१. सूरं मण्णइ अप्पाणं
जाव जेयं ण पस्सई।
जुज्झंतं दढधम्मा णं
सिसुपालो व महारहं॥

कायर मनुष्य शिशुपाल की तरह स्वयं को तभी तक शूर एवं महारथ मानता है, जब तक युध्यमान दृढ़धर्मी विजेता कृष्ण को नही देख लेता।

२. पयाया सूरा रणसीसे
संगामम्मि उवट्ठिए।
माया पुत्तं ण याणाइ
जेएण परिविच्छए॥

संग्राम में उपस्थित हो जाने पर शूर-वीर रणशीर्ष हो जाते हैं। माता युद्ध-विक्षिप्त पुत्र को नहीं जानती है।

३. एवं सेहे वि अप्पुट्ठे
भिक्खायरिया - अकोविए।
सूरं मण्णइ अप्पाणं
जाव लूहं ण सेवए॥

इसी प्रकार भिक्षु-चर्या में अकोविद अपुष्ट साधक भी अपने आपको तभी तक शूरवीर मानता है जब तक वह रुक्ष/तीक्ष्ण संयम का सेवन नहीं कर लेता।

४. जया हेमंतमासम्मि
सीयं फुसइ सव्वगं।
तत्थ मंदा विसीयंति
रज्जहीणा व खत्तिया॥

जब हेमन्त माह में ठंडी हवा लगती है, तब मन्द पुरुष वैसे ही विषाद करते हैं जैसे राज्य से च्युत क्षत्रिय।

५. पुट्ठे गिम्हाहितावेणं
विमणे सुपिवासिए।
तत्थ मंदा विसीयंति
मच्छा अप्पोदए जहा॥

जब ग्रीष्म-ताप से स्पृष्ट होकर मनुष्य विमनस्क और पिपासित हो जाते हैं, तब वे वैसे ही विषाद करते हैं जैसे थोड़े जल में मछली।

६. सया दत्तेसणा दुक्खा
जायणा दुप्पणोल्लिया ।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव
इच्चाहंसु पुढोजणा ॥

दत्तैपणा सदा दुःख है। याचना दुष्कर है। साधारण जन यह कहते है कि ये पाप-कर्म के फल भोग रहे हैं, अभागे है।

७. एए सद्दे अचायंता
गामेसु णगरेसु वा ।
तत्थ मंदा विसीयंति
संगामम्मिव भीरुया ॥

गावों में या नगरों इन शब्दों को सहन न कर सकने वाले मंद मनुष्य वैसे ही विषाद को प्राप्त करता है, जैसे संग्राम में भयभीत पुरुष ।

८. अप्पेगे खुभियं भिक्खुं
सुणी डंसइ लूसए ।
तत्थ मंदा विसीयंति
तेउपुट्ठा व पाणिणो ॥

कोई क्रूर कुत्ता क्षुधित भिक्षु को काटता है, तो मूढ़ भिक्षु वैसे ही दुःखी होता है, जैसे अग्नि-स्पृष्ट होने पर प्राणी ।

९. अप्पेगे पडिभासंति
पडिपंथियमागया ।
पडियारगया एए
जे एए एव-जीविणो ॥

प्रतिकूल पथ पर चलने वाले कुछ लोग बोलते है कि ये इस प्रकार का जीवन जीने वाले प्रतिकार करते है ।

१०. अप्पगे वइं जुंजंति
णगिणा पिंडोलगाहमा ।
मुंडा कंडू-विणट्ठंगा
उज्जल्ला असमाहिया ॥

कुछ लोग कहते है कि ये नग्न हैं, पिंडलोलक, अधम, मुण्डित, कण्डुक, विकृत अङ्गी, स्नानहीन और असमाहित हैं।

११. एवं विप्पडिवण्णेगे
अप्पणा उ अजाणया ।
तमाओ ते तमं जंति
मंदा मोहेण पाउडा ॥

उनमें जो अज्ञानी एवं विप्रतिपन्न हैं वे मोह से विवेकमूढ़ होकर अन्धकार से गहन अन्धकार में चले जाते हैं ।

१२. पुट्ठो यं दंसमसगेहिं
तणफासमचाइया ।
ण मे दिट्ठे परे लोए
किं परं मरणं सिया ? ॥

मुनि डांस-मच्छरों के काटने तथा तृण-स्पर्श न सहने के कारण सोचता है मैंने परलोक नहीं देखा है, अतः मृत्यु के अतिरिक्त और क्या होगा ?

१३. संतत्ता केसलोएणं
बंभचेरपराइया ।
तत्थ मंदा विसीयंति
मच्छा विट्ठा व केयणे ॥

केशलुंचन से संतप्त और ब्रह्मचर्य-पालन से पराजित मंद मनुष्य वैसे ही विषाद को प्राप्त करते हैं जैसे जाल में फंसी मछलियाँ ।

१४. आयदंडसमायारे
मिच्छासंठियभावणा ।
हरिसप्पओसमावण्णा
केई लूसंतिऽणारिया ॥

आत्मघाती आचार वाले, मिथ्यात्व-स्थित, हर्ष (राग) और द्वेष से युक्त कुछ अनार्य-पुरुष साधु को पीड़ा देते हैं ।

१५. अप्पेगे पलियंते सिं
चारो चोरो त्ति सुव्वयं ।
बंधंति भिक्खुयं बाला
कसायवयणेहि य ॥

कुछ अज्ञानी लोग सुव्रती भिक्षु को गुप्तचर एवं चोर समझकर कषाय-वस्त्र से बांध देते हैं ।

१६. तत्थ दंडेण संवीते
मुट्ठिणा अदु फलेण वा ।
णाईणं सरई बाले
इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥

वहाँ डंडे, मुष्टि अथवा फलक से पीटे जाने पर वह अज्ञ अपने ज्ञातिजनों को वैसे ही याद करता है, जैसे क्रुद्धगामी स्त्री ।

१७. एए भो कसिणा फासा
फरुसा दुरहियासया ।
हत्थी वा सरसंवीत्ता
कीवा वसगा गया गिहं ॥

हे वत्स ! ये समस्त स्पर्श दुस्सह और कठोर हैं । इनसे विवश होकर भिक्षु वैसे ही घर लौट आता है, जैसे बाणों से आहत हाथी ।

— त्ति बेमि

ऐसा मैं कहता हूँ ।

बीओ उद्देसो

द्वितीय उद्देशक

१८. अहिमे सुहुमा संगा भिक्खूणं जे दुरुत्तरा । जत्थ एगे विसीयंति ण चयंति जवित्तए ।।	ये सभी सूक्ष्म संग (सम्बन्ध) भिक्षुओं के लिए उपसर्ग है। यहाँ जो कोई साधु विषाद करते है, वे संयम-यापन में समर्थ नहीं हो पाते।
१९. अप्पेगे णायओ दिस्स रोयंति परिवारिया । पोस णे ताय ! पुट्ठो सि कस्स ताय ! जहासि णे ? ।।	कुछ ज्ञातिजन प्रव्रज्यमान भिक्षु को देखकर/घेरकर रोते हैं। कहते हैं तात! हमारा पालन-पोषण करो, हमें संतुष्ट करो, हमे किसलिए छोड़ रहे हो?
२०. पिया ते थेरओ ताय ! ससा ते खुड्डिया इमा । भायरो ते सवा ताय ! सोअरा किं जहासि णे ?	हे तात ! तुम्हारे पिता वृद्ध हैं, यह तुम्हारी बहिन छोटी है, तात! तुम्हारे ये सहोदर आज्ञाकारी हैं, फिर तुम हमें क्यों छोड़ रहे हो ?
२१. मायरं पियरं पोस एवं लोगो भविस्सइ । एवं खु लोइयं ताय ! जे पालेंति उ मायरं ।।	तात ! तुम माता-पिता का पोषण करो, इससे लोक सफल होगा। तात! लौकिक-व्यवहार यही है कि माता-पिता का पालन करना चाहिये।
२२. उत्तरा महुरुल्लावा पुत्ता ते ताय ! खुड्डया । भारिया ते णवा ताय ! मा सा अण्णं जणं गमे ।।	तात! तुम्हारे उत्तरोत्तर उत्पन्न और मधुरभाषी छोटे-छोटे पुत्र है। तात ! तुम्हारी पत्नी नव यौवना है, अतः वह अन्यजन के पास न जा सके।

३४. वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य । भुंजाहिमाइं भोगाइं आउसो ! पूजयामु तं ॥	आयुष्मन् ! वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्रियाँ और शयन आदि भोग्य भोगों को भोगो। हम तुम्हारी पूजा करते हैं।
३५. जो तुमे णियमो चिण्णो भिक्खुभावम्मि सुव्वया ! । अगारमावसंतस्स सव्वो संविज्जए तहा ॥	हे सुव्रत ! तुमने मुनिभाव में जो नियम धारण किया है, वह सब घर में निवास करने पर भी उसी तरह बना रहेगा।
३६. चिरं दूइज्जमाणस्स दोसो दाणिं कुओ तव ? । इच्चेव णं णिमंतेंति णीवारेण व सूयरं ॥	चिर-विचरणशील के लिए इस समय दोष कैसा ? वे नीवार (आहारादि) से सूकर की तरह मुनि को निमन्त्रित करते हैं।
३७. चोइया भिक्खुचरियाए अचयंता जवित्तए । तत्थ मंदा विसीयंति उज्जाणंसि व दुब्बला ॥	भिक्षुचर्या में प्रवृत्त होते हुए भी मन्द पुरुष वैसे ही विषाद ग्रस्त होते हैं, जैसे चढ़ाई में दुर्बल [बैल]।
३८. अचयंता व लूहेण उवहाणेण तज्जिया । तत्थ मंदा विसीयंति पंकंसि व जरग्गवा ॥	संयम पालन में असमर्थ तथा तपस्या से तर्जित मंद पुरुष वैसे ही विषाद करते हैं, जैसे कीचड़ में वृद्ध बैल।
३९. एवं णिमंतणं लद्धुं मुच्छिया गिद्ध इत्थिसु । अज्झोववण्णा कामेहिं चोइज्जंता गिहं गय ॥ —त्ति बेमि ।	इस प्रकार निमन्त्रण पाकर स्त्री-गृद्ध, काम-अध्युपपन्न बने भिक्षु गृहवास की ओर उद्यम कर बैठते हैं। —ऐसा मैं कहता हूँ।

तइओ उद्देसो

तृतीय उद्देशक

४०. जहा संगामकालम्मि
पिट्ठओ भीरु वेहइ ।
वलयं गहणं णूमं
को जाणइ पराजयं ? ।।

जैसे युद्ध के समय भीरु पृष्ठ भाग में गढे, खाई और गुफा का प्रेक्षण करता है, क्योंकि कौन जाने कब पराजय हो जाये !

४१. मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स
मुहुत्तो होइ तारिसो ।
पराजियाऽवसप्पामो
इति भीरू उवेहई ।।

मूहूर्तों के मुहूर्त में ऐसा भी मुहूर्त आता है, जब पराजित को पीछे भागना पड़ता है । इसलिए भीरु पीछे देखता है ।

४२. एवं तु समणा एगे
अबलं णच्चाण अप्पगं ।
अणागयं भयं दिस्स
अवकप्पंतिमं सुयं ।।

इसी प्रकार कुछ श्रमण स्वयं को निर्बल समझकर अनागत भय को देख कर श्रुत का अध्ययन करते हैं ।

४३. को जाणइ विऊवायं
इत्थीओ उदगाओ वा ? ।
चोइज्जंता पवक्खामो
ण णो अत्थि पकप्पियं ।।

कौन जाने पतन स्त्री से होता है या जल से । पूछे जाने पर कहूँगा कि हम इस कार्य में प्रकल्पित नहीं है ।

४४. इच्चेवं पडिलेहंति
वलयाइ पडिलेहिणो ।
वितिगिच्छसमावण्णा
पंथाणं व अकोविया ।।

विचिकित्सा-समापन्न अकोविद श्रमण वलयादि का प्रतिलेख करते हुए पंथ देखते हैं ।

४५.	जे उ संगामकालम्मि णाया सूरपुरंगमा । ण ते पिट्ठमुवेहिंति किं परं मरणं सिया? ॥	जो शूर-पुरंगम विख्यात हैं, वे संग्राम-काल में पीछे नहीं देखते। भला, मरण से ज्यादा और क्या होगा।
४६.	एवं समुट्ठिए भिक्खू वोसिज्जा गारबंधणं । आरंभं तिरियं कट्टु अत्तत्ताए परिव्वए ॥	इस प्रकार संयम समुत्थित भिक्षु अगार बन्धन का विसर्जन कर और आरम्भ को छोड़कर आत्म-हित के लिए परि-व्रजन करे।
४७.	तमेगे परिभासंति भिक्खुयं साहुजीविणं । जे एवं परिभासंति अंतए ते समाहिए ॥	साधु जीवी भिक्षु की कुछ लोग निन्दा करते हैं। जो इस प्रकार निन्दा करते हैं, वे समाधि से दूर हैं।
४८.	संबद्धसमकप्पा हु अण्णमण्णेसु मुच्छिया । पिंडवायं गिलाणस्स जं सारेह दलाह य ॥	समकल्प-सम्बद्ध/गृहस्थ लोग एक दूसरे में मूर्छित रहते है। ग्लान को आहार लाकर देते हैं, सम्हालते हैं।
४९.	एवं तुब्भे सरागत्था अण्णमण्णमणुव्वसा । णट्ठ-सप्पह-सब्भावा संसारस्स अपारगा ॥	इस प्रकार तुम सब सरागी और एक दूसरे के वशवर्ती, सत्पथ एव सद्भाव रहित तथा संसार के अपारगामी हो।
५०.	अह ते पडिभासेज्जा भिक्खू मोक्खविसारए । एवं तुब्भे पभासंता दुपक्खं चेव सेवहा ॥	इस प्रकार कहने पर मोक्ष विशारद भिक्षु उन्हें कहे कि इस प्रकार बोलते हुए तुम लोग द्विपक्ष का ही सेवन कर रहे हो।

५१. तुब्भे भुंजह पाएसु
गिलाणो अभिहडं ति य ।
तं च बीओदगं भोच्चा
तमुद्देसादि जं कडं ॥

तुम पात्र में भोजन करते हो, ग्लान के लिए भोजन मंगवाते हो, बीज और कच्चे जल का उपयोग करते हो और मुनि के उद्देश्य से भोजन बनाते हो।

५२. लित्ता तिव्वाभितावेणं
उज्झिया असमाहिया ।
णाइकंडूइयं सेयं
अरुयस्सावरज्झई ॥

मनुष्य तीव्र अभिताप से लिप्त, विवेक रहित और असमाहित है, किन्तु काम-भोग के घाव को अधिक खुजलाना श्रेयस्कर नहीं है। यह अपराध को प्रोत्साहन है।

५३. तत्तेण अणुसिट्ठा ते
अपडिण्णेण जाणया ।
ण एस णियए मग्गे
असमिक्खा वई किई ॥

ज्ञानी भिक्षु अप्रतिज्ञ होकर उन अनुशिष्ट लोगों से तत्त्व-पूर्वक कहे—आपका यह मार्ग नियत/युक्ति संगत नहीं है। आपकी कथनी और करनी भी असमीक्ष्य है।

५४. एरिसा जा वई एसा
अग्गवेणु व्व करिसिया ।
गिहिणो अभिहडं सेयं
भुंजिउं ण उ भिक्खुणं ॥

गृहस्थ द्वारा लाये हुए आहार का उपभोग श्रेयस्कर है; भिक्षु द्वारा लाये हुए का नहीं—यह कथन बांस के अग्रभाग की तरह कमजोर है।

५५. धम्मपण्णवणा जा सा
सारम्भाण विसोहिया ।
ण उ एयाहिं दिट्ठीहिं
पुव्वमासि पगप्पियं ॥

जो धर्म-प्रज्ञापना है वह आरम्भ की विशोधिका है। इन दृष्टियों से पूर्व में यह प्रकल्पना नहीं थी।

५६. सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं
अचयंता जवित्तए ।
तओ वायं णिराकिच्चा
ते भुज्जो वि पगब्भिया ॥

समग्र युक्तियों से अपना मत-स्थापन अशक्य लगने पर लोग वाद को छोड़कर प्रगल्भिता में उतर आते हैं।

५७. रागदोसाभिभूदप्पा
मिच्छत्तेण अभिद्दुया ।
अक्कोसे सरणं जंति
टंकणा इव पव्वयं ॥

राग दोष/द्वेष से अभिभूत और मिथ्यात्व से अभिद्रुत/ओतप्रोत वे वैसे ही आक्रोश की शरण स्वीकार की शरण स्वीकार कर लेते हैं, जैसे तङ्गण पर्वत की।

५८. वहुगुणप्पकप्पाइं
कुज्जा अत्तसमाहिए ।
जेणण्णे णो विरुज्झेज्जा
तेणं तं तं समायरे ॥

आत्मगुण समाहित पुरुष वहुगुण निष्पन्न चर्चा करे। वह वैसा आचरण करे जिससे कोई विरोधी न हो।

५९. इमं च धम्ममायाय
कासवेण पवेइयं ।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स
अगिलाए समाहिए ॥

काश्यप महावीर द्वारा प्रवेदित धर्म को प्राप्त कर भिक्षु अग्लान-भाव से ग्लान की सेवा करे।

६०. संखाय पेसलं धम्मं
दिट्ठिमं परिणिव्वुडे ।
उवसग्गे णियामित्ता
आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥
—त्ति वेमि ।

दृष्टिमान् व परिनिवृत्त भिक्षु श्रेयस्कर धर्म को जानकर मोक्ष प्राप्ति होने तक उपसर्गों का नियमन करते हुए परिव्रजन करे।
—ऐसा मैं कहता हूँ।

चउत्थो उद्देसो

चतुर्थ उद्देशक

६१. आहंसु महापुरिसा
पुव्वि तत्ततवोधणा ॥
उदएण सिद्धिमावण्णा
तत्थ मंदो विसीयइ ॥

तप्त तपोधनी महापुरुष पहले जल से सिद्धि सम्पन्न कहे गये हैं। किन्तु मंद पुरुष वहाँ विषाद करता है।

६२. अभुंजिया णमी वेदेही
रामगुत्ते य भुंजिया ।
वाहुए उदगं भोच्चा
तहा नारायणे रिसी ॥

वैदेही नमि भोजन छोड़कर, रामगुप्त/रामपुत्र भोजन करते हुए वाहुक और नारायण ऋषि जल पीकर [सिद्धि सम्पन्न कहे गये हैं]

६३. आसिले देविले चेव
दीवायण महारिसी ।
पारासरे दगं भोच्चा
बीयाणि हरियाणी य ॥

महर्षि आसिल, देविल, द्वीपायन एवं पराशर जल, बीज और हरित का सेवन करते हुए सिद्धि [सम्पन्न कहे गये हैं।]

६४. एए पुव्वं महापुरिसा
आहिया इह संमया ।
भोच्चा बीयोदगं सिद्धा
इइ मेयमणुस्सुयं ॥

पूर्वकालिक ये महापुरुष इस समय भी मान्य एवं कथित है। इन्होंने बीज एवं जल का उपभोग करके सिद्धि प्राप्त की थी, ऐसा मैंने परम्परा से सुना है।

६५. तत्थ मंदा विसीयंति
वाहच्छिण्णा य गद्दभा ।
पिट्ठओ परिसप्पंति
पीढसप्पीव संभमे ॥

वहाँ मन्द-पुरुष वैसे ही विषाद करते हैं, जैसे भार ग्रस्त गधा। भार के सम्भ्रम से वे पीछे चलते रहते हैं।

६६. इहमेगे उ भासंति
सातं सातेण विज्जई ।
जे तत्थ आरियं मग्गं
परमं च समाहियं ॥

कुछ लोग यह कहते हैं कि साता के द्वारा ही साता विद्यमान होती है। यहाँ आर्य मार्ग ही परम है, समाधि-कर है।

६७. मा एयं अवमण्णंता
अप्पेणं लुंपहा बहुं ।
एयस्स अमोक्खाए
अयोहारि व्व जूरहा ॥

इस अप-सिद्धान्त को मानते हुए तुम अल्प के लिए अधिक का लुम्पन मत करो। इसको न छोड़ने पर तुम लोह वणिक् की तरह पछताओगे।

६८. पाणाइवाए वट्टंता
मुसावाए असंजया ।
अदिण्णादाणे वट्टंता
मेहुणे य परिग्गहे ॥

वे प्राणों के अतिपात में वर्तनशील, मृषावाद में असंयत अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह में सक्रिय हैं।

६९. एवमेगे उ पासत्था
पण्णवंति अणारिया ।
इत्थीवसं गया बाला
जिणसासणपरंमुहा ॥

जिनशासन-पराङ्मुख, स्त्री-वशवर्ती, अज्ञानी, अनार्य कुछ पार्श्वस्थ इस प्रकार कहते हैं—

७०. जहा गंडं पिलागं वा
परिपीलेज्ज मुहुत्तगं ।
एवं विण्णवणित्थीसु
दोसो तत्थ कओ सिया ? ॥

जैसे गांठ या फोड़े को मुहूर्त भर के लिए परिपीड़ित किया जाता है, उसी प्रकार स्त्रियों के साथ समझने में दोष कहाँ है ?

७१. जहा मंधादए णाम
थिमियं भुंजइ दगं ।
एवं विण्णवणित्थीसु
दोसो तत्थ कओ सिया ? ॥

जैसे 'मन्धादक' (भेड़) जल को अव्यवस्थित किये बिना पी लेती है, इसी प्रकार वही विज्ञापन स्त्रियों के साथ हो तो वहाँ दोष कहाँ है ?

७२. जहा विहंगमा पिंगा
थिमियं भुंजइ दगं ।
एवं विण्णवणित्थीसु
दोसो तत्थ कओ सिया ? ॥

जैसे पिंग पक्षिणी जल को अव्यवस्थित किये बिना पी लेती है वहीं विज्ञापन स्त्रियों के साथ हो, तो वहाँ दोष कहाँ है ?

७३. एवमेगे उ पासत्था
मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
अज्झोववण्णा कामेहिं
पूयणा इव तरुणए ॥

इस प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि, अनार्य, पार्श्वस्थ वैसे ही काम भोग में अध्युपपन्न रहते हैं जैसे स्त्री तरुण में।

७४. अणागयमपस्संता
पच्चुप्पण्णगवेसगा ।
ते पच्छा परितप्पंति
खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥

अनागत को ओझलकर जो मात्र प्रत्यु-त्पन्न/वर्तमान की गवेषणा करते हैं, वे आयुष्य और यौवन क्षीण होने के बाद में परितप्त होते हैं।

७५. जेहिं काले परक्कंतं
ण पच्छा परितप्पए ।
ते धीरा बंधणुम्मुक्का
णावकंखंति जीवियं ॥

जिन्होंने समय रहते [धर्म] प्रराक्रम किया है, वे बाद में परितप्त नहीं होते। वे बन्धन-मुक्त धीर-पुरुष जीवन की आकांक्षा नहीं करते।

७६. जहा णई वेयरणी
दुत्तरा इह सम्मता ।
एवं लोगंसि णारीओ
दुत्तरा अमईमया ॥

जैसे वैतरणी नदी दुस्तर समझी गई है, वैसे ही अमतिमान् के लिए इस लोक में नारी दुस्तर है।

७७. जेहिं णारीण संजोगा
पूयणा पिट्ठओ कया ।
सव्वमेयं णिराकिच्चा
ते ठिया सुसमाहीए ॥

जिन्होंने नारी-संयोग की अभ्यर्थना को पीठ दिखा दी है, वे इन सबको निराकृत करके सम्यक्-समाधि में स्थित होते हैं।

७८. एए ओघं तरिस्संति
समुद्दं व ववहारिणो ।
जत्थ पाणा विसण्णासी
किच्चंती सयकम्मुणा ॥

जहाँ प्राणी स्वकर्मानुसार विषण्णासीन कृत्य करते हैं, उस ओघ को वे काम-जयी वैसे ही तैर जाते हैं, जैसे व्या-पारी समुद्र को।

७९. तं च भिक्खू परिण्णाय
सुव्वए समिए चरे ।
मुसावायं च वज्जिज्जा
अदिण्णादाणं च वोसिरे ॥

इसे जानकर भिक्षु सुव्रत और समित होकर विचरण करे। मृषावाद को विवर्जन और अदत्तादान का विसर्जन करे।

८०. उड्ढमहे · तिरियं वा जे केई तसथावरा । सव्वत्थ विरतिं कुज्जा संति णिव्वाणमाहियं ॥	ऊर्ध्व, अधो अथवा तिर्यक् लोक में जो कोई भी त्रस-स्थावर प्राणी हैं, उनसे विरति करे, क्योंकि शांति ही निर्वाण कही गई है।
८१. इमं च धम्ममायाय कासवेण पवेइयं । कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिए ॥	काश्यप महावीर द्वारा प्रवेदित इस धर्म को स्वीकार कर भिक्षु अग्लान भाव से रुग्ण की सेवा करे।
८२. संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिणिव्वुडे । उवसग्गे णियामित्ता आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥ —त्ति बेमि ।	सम्यक् द्रष्टा और परिनिवृत्त भिक्षु पवित्र धर्म को जानकर उपसर्गो का नियमन कर मोक्ष प्राप्ति तक परिव्रजन करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

चउत्थं अज्झयणं

इत्थी परिण्णा

चतुर्थ अध्ययन

स्त्री परिज्ञा

आमुख

प्रस्तुत अध्याय 'स्त्री-परिज्ञा' है। स्त्री पुरुष का विपक्ष है। एक दूसरे का आकर्षण जीवन जगत में संसार का निमन्त्रण है। पुरुष के लिए स्त्री विपरीत का आकर्षण है और स्त्री के लिए पुरुष। दोनों अपने आप में स्वतन्त्र प्रवाह हैं। दोनों की अपनी-अपनी मौलिकताएँ है। दोनों का मेल-मिलाप उनकी मौलिकताओं को चुनौती है।

मुनि संसार से अभिनिष्क्रमण करता है। अपनी मौलिकताओं को सुरक्षित एवं संवर्धित करते हुए आत्मा की परिक्रमा लगाना जीवन में मुनित्व का विनि-योजन है। मुनित्व संसार से ऊपर उठने की जीवन्त कला है।

संसार की जड़ स्त्री-राग पुरुष-राग है। मनुष्य का सबसे अधिक राग स्त्री से होता है। उससे कम पुत्र से और उससे भी कम धन से होता है। अभिभावकों का क्रम तो स्त्री, पुत्र और धन के बाद आता है। ये ही तो वे जंजीरें, ग्रन्थियां हैं जो व्यक्ति को संसार के बन्दीगृह में जकड़े रखती है।

निर्ग्रन्थ मुनि का ही पर्याय है। न केवल बाहरी अपितु भीतरी ग्रन्थियों को छिन्न-भिन्न करने से ही निर्ग्रन्थता उभरती है। बन्दीगृह से छूटने के बाद उनके उपभोग का पुनर्स्मरण छोटी हुए पदार्थ को चाटना है। यह श्वानोचित कर्म है सिंहोचित नहीं। मुनि के पराक्रम के लिए सिंह ही आदर्श है श्वान कभी नहीं। यदि मुनि सही अर्थों में निर्ग्रन्थ हुआ है तो कोई भी स्त्री/अप्सरा उसे अपने फन्दे में नहीं फँसा सकती। साधना के मार्ग में वे लोग पराजित होते ही हैं जिन्होंने स्त्री-परवशता से मुक्ति नहीं पायी।

मुनि ब्रह्मचारी होता है। खुद में खुद का विचरण ही ब्रह्मचर्य है। आत्म-चर्या में स्त्री तो क्या मन, वचन और शरीर से भी ऊपर उठना होता है। स्त्रियों का आकर्षण मात्र उन्हीं के मन में अंकुरित होता है जो देह में जीते हैं। मुनि तो देहातीत होता है। विदेह-मुक्ति के अभियान में स्वयं को आठों याम प्रयत्नशील रखने में मुनित्व की प्रतिष्ठा है।

पढमो उद्देसो

प्रथम उद्देशक

१. जे मायरं च पियरं च
विप्पजहाए पुव्वसंजोगं ।
एगे सहिए चरिस्सामि
आरयमेहुणो विवित्तेसी ।।

जो माता, पिता तथा पूर्व संयोग को छोड़कर संकल्प करता है — मैं अकेला ही मैथुन से विरत होकर विवक्त (एकान्त) स्थानों में विचरण करूँगा ।

२. सुहुमेणं तं परक्कम्म
छण्णपएण इत्थीओ मंदा ।
उवायं पि ताओ जाणंति
जह लिस्संति भिक्खुणो एगे ।।

मन्द स्त्रियाँ सूक्ष्म एवं स्वच्छन्द पराक्रम कर उस उपाय को भी जानती हैं जिससे कुछ भिक्षु श्लिष्ट होते हैं ।

३. पासे भिसं णिसीयंति
अभिक्खणं पोसवत्थं परिहिंति ।
कायं अहे वि दंसंति
बाहु उद्धट्टु कक्खमणुव्वजे ।।

वे साधु के पास बैठती हैं, पोप-वस्त्र (संधारण वस्त्र) ढीला करती है, बाँधती हैं । अधोकाय का दर्शन कराती है तथा बाहु उठाकर कांख बजाती है।

४. सयणासणेहिं जोग्गेहिं
इत्थीओ एगया णिमंतंति ।
एयाणि चेव से जाणे
पासाणि विरूवरूवाणि ।।

कभी वे स्त्रियाँ समयोचित शयन आसन के लिए उसे निमन्त्रित करती हैं । इनसे मुनि को यह समझना चाहिये कि ये विविध प्रकार के पाश हैं ।

५. णो तासु चक्खु संधेज्जा
णो वि य साहसं समभिजाणे ।
णो सहियं पि विहरेज्जा
एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ।।

मुनि उन पर आँख न गड़ाए । न उनके इस साहस का समर्थन करे । साथ में विचरण भी न करे । इससे आत्मा सुरक्षित होती है ।

६. आमंतिय उवसमियं वा
भिक्खुं आयसा णिमंतंति ।
एयाणि चेव से जाणे
सद्दाणि विरूवरूवाणि ॥

वे भिक्षु को आमन्त्रित/लुब्ध या उपशमित कर स्वयं निमन्त्रण देती हैं। पर (मुनि) इन शब्दों को नाना प्रकार के बन्धन समझे।

७. मणबंधणेहिं णेगेहिं
कलुणविणीयमुवगसित्ताणं ।
अदु मंजुलाइं भासंति
आणवयंति भिण्णकहाहिं ॥

वे मन को बाँधने वाली करुण, विनीत अथवा मंजुल भाषा बोलती हैं। भिन्न कथा से आज्ञा भी देती हैं।

८. सीहं जहा व कुणिमेणं
णिब्भयमेगचरं पासेणं ।
एवित्थियाओ बंधंति
संवुडं एगतियमणगारं ॥

स्त्रियाँ संवृत और अकेले अनगार को [मोहपाश में] वैसे ही बाँध लेती हैं, जैसे प्रलोभन पाश से निर्भय एगचारी सिंह को।

९. अह तत्थ पुणो णमयंति
रहकारो व णेमिं अणुपुव्वीए ।
बद्धे मिए व पासेण
फंदंते वि ण मुच्चई ताहे ॥

फिर वे क्रमशः साधु को वैसे ही झुका लेती हैं, जैसे रथकार धुरी को। वह मुनि पाश में बद्ध मृग की तरह स्पंदमान होने पर भी उससे मुक्त नही हो पाता।

१०. अह सेऽणुतप्पई पच्छा
भोच्चा पायसं व विसमिस्सं ।
एवं विवेगमायाए
संवासो णवि कप्पए दविए ॥

बाद में वह वैसे ही अनुतप्त होता है जैसे विषमिश्रित खीर खाकर मनुष्य। इस तरह विवेक प्राप्तकर भिक्षु द्रव्य/स्त्री के साथ सहवास न करे।

११. तम्हा उ वज्जए इत्थी
विसलित्तं व कंटगं णच्चा ।
ओए कुलाणि वसवत्ती
आघाए ण से वि णिग्गंथे ॥

इसलिए स्त्री को विषलिप्त कांटा जानकर वर्जन करना चाहिये। जो ओजस्वी पुरुष कुलों में स्त्रियों को वश करने की बात भी कहता है तो वह निर्ग्रन्थ नहीं है।

१२. जे एयं उंछं अऽणुगिद्धा
अण्णयरा हु ते कुसीलाणं ।
सुतवस्सिए वि से भिक्खू
णो विहरे सहणमित्थीसु ।।

जो अनुगृद्ध होकर उञ्छवृत्ति करते हैं। वे कुशीलों में अन्यतर हैं। जो सुतपस्वी भिक्षु हैं भी स्त्रियों के साथ विहरण न करे।

१३. अवि धूयराहिं सुण्हाहिं
धाईहिं अदुवा दासीहिं ।
महतीहिं वा कुमारीहिं
संथवं से ण कुज्जा अणगारे ।।

पुत्री, पुत्र-वधु, धातृ, दासी या बड़ी अथवा कुमारी के साथ भी अनगार संस्तव न करे।

१४. अदु णाइणं व सुहिणं वा
अप्पियं दट्ठुं एगया होइ ।
गिद्धा सत्ता कामेहिं
रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि ।।

अप्रिय स्थिति में भिक्षु को देखकर ज्ञातिजनों एवं मित्रों को एकदा ऐसा होता है—कि यह भिक्षु कामभोगों में गृद्ध एवं आसक्त है। [वे कहते हैं] तुम ही इस स्त्री के रक्षण-पोषण करने वाले मनुष्य हो।

१५. समणं पि दट्ठूदासीणं
तत्थ वि ताव एगे कुप्पंति ।
अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं
इत्थीदोसं संकिणो होंति ।।

उदासीन श्रमण को ऐसी स्थिति में देखकर कुछ व्यक्ति कुपित हो जाते हैं उन्हें न्यस्त भोजन में स्त्री-दोष की शंका होती है।

१६. कुव्वंति संथवं ताहिं
पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं ।
तम्हा समणा ण समेंति
आयहियाए सण्णिसेज्जाओ ।।

समाधि योग से भ्रष्ट श्रमण ही उन [स्त्रियों] के साथ संस्तव करते हैं। इसलिए श्रमण आत्महित की दृष्टि से उसकी शय्या के निकट नहीं जाते।

१७. वहवे गिहाइं अवहट्टु
मिस्सीभावं पत्थुया य एगे ।
धुवमग्गमेव पवयंति
वायावीरियं कुसीलाणं ।

अनेक लोग/श्रमण गार्हस्थ्य का अपहरण कर मिश्र भाव प्रस्तुत करते हैं। वे वाग्वीर/कुशील उसे ही ध्रुव-मार्ग कहते हैं।

१८. सुद्धं रवइ परिसाए अह रहस्सम्मि दुक्कडं कुणइ । जाणंति य णं तहावेया माइल्ले महासढेऽयं ति ॥	वह परिषद् में स्वयं को शुद्ध बतलाता है पर एकान्त में दुष्कर्म करता है। तत्त्ववेत्ता उसे जानते हैं कि यह मायावी है, महाशठ है।
१९. सयं दुक्कडं ण वयइ आइट्ठो वि पकत्थइ बाले । वेयाणुवीइ मा कासी चोइज्जंतो गिलाइ से भुज्जो ॥	वह अपना दुष्कृत नहीं बतलाता। आविष्ट होने पर वह बाल-पुरुष आत्म-प्रशंसा करता है। स्त्री-वेद का अनुचिन्तन मत करो—इस वाणी-उद्यम से वह खिन्न होता है।
२०. उसिया वि इत्थिपोसेसु पुरिसा इत्थिवेयखेयण्णा । पण्णासमण्णिया वेगे णारीणं वसं उवकसंति ॥	जो पुरुष स्त्रियों के साथ सहवास कर चुके हैं, स्त्रीवेद के परिसर के ज्ञाता हैं। उनमें कुछ प्रज्ञा से समन्वित होते हुए भी स्त्रियों के वशीभूत हो जाते हैं।
२१. अवि हत्थपायछेयाए अदुवा वद्धमंस उक्कंते । अवि तेयसाभितावणाणि तच्छिय खारसिंचणाइं च ॥	व्यभिचारी मनुष्यों के हाथ-पैर छेद कर, आग में सेककर, चमड़ी मांस निकालकर उसके शरीर को क्षार (नमक) से सिंचित किया जाता है।
२२. अदु कण्णणासियाछेज्जं कंठच्छेयणं तितिक्खंती । इति एत्थ पाव-संतत्ता ण य वेंति पुणो ण काहिंति ॥	नाक, कान एवं कंठ के छेदित होने पर भी पाप से संतप्त पुरुष यह नहीं कहते कि हम पुनः ऐसा पाप नहीं करेंगे।
२३. सुयमेयमेवमेगेसिं इत्थीवेदे वि हु सुयक्खायं । एयं पि ता वइत्ताणं अदुवा कम्मुणा अवकरेंति ॥	यह लोक श्रुति है एवं स्त्री-वेद में भी कथित है कि स्त्रियाँ कही हुई बात का कर्मणा पालन नही करती।

२४. अण्णं मणेण चिंतेंति
वाया अण्णं च कम्मुणा अण्ण ।
तम्हा ण सद्दहे भिक्खू
बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ॥

वह मन से चिन्तन कुछ और करती है वाणी से भी कुछ और तथा कर्म भी कुछ और ही करती है। इसलिए भिक्षु स्त्रियों को बहुमायावी जानकर उन पर श्रद्धा न करे।

२५. जुवई समणं बूया
चित्तवत्थालंकारविभूसिया ।
विरया चरिस्सहं रुक्खं
धम्म मा इक्ख णे भयंतारो! ॥

विविध वस्त्र एवं अलंकार से विभूषित युवती श्रमण से कहती है। भदन्त ! मुझे धर्मोपदेश दें। मैं विरत हो गई हूँ, संयम का पालन करूँगी।

२६. अदु सावियापवाएणं
अहगं साहम्मिणी य तुब्भं ति ।
जउकुम्भे जहा उवज्जोई
संवासे विऊ विसीएज्जा ॥

अथवा श्राविका होने के कारण मैं तुम्हारी सहधर्मिणी हूँ। किन्तु विद्वान् स्त्री के साथ सहवास से वैसे विषाद करता है, जैसे अग्नि के सहवास से लाख का घड़ा।

२७. जउकुम्भे जोइसुवगूढे
आसुभितत्ते णासमुवयाई ।
एवित्थियाहिं अणगारा
संवासेण णासमुवयंति ।

जैसे लाख का घड़ा अग्नि से तप्त होने पर शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही स्त्री-सहवास से अनगार विनष्ट हो जाता है।

२८. कुव्वंति पावगं कम्मं
पुट्ठा वेगेवमाहंसु ।
णा हं करेमि पावं ति
अंकेसाइणी ममेस त्ति ॥

कुछ लोग/भिक्षु पाप-कर्म करते हैं पर पूछने पर कहते हैं—मैं पाप नहीं करता हूँ। यह स्त्री मेरी अङ्कशायिनी रही है।

२९. बालस्स मंदयं बीयं
जं च कडं अवजाणई भुज्जो ।
दुगुणं करेइ से पावं
पूयणकामो विसण्णेसी ॥

बाल पुरुष की यह दोहरी मंदता है कि वह कृत् को अस्वीकार करता है। वह पूजा-कामी विषण्णता की एषणा करने वाला दुगुना पाप करता है।

३०. संलोकणिज्जमणगारं
आयगयं णिमंतणेणाहंसु ।
वत्थं वा ताइ ! पायं वा
अण्णं पाणगं पडिग्गाहे ।।

अवलोकनीय आत्मगत अनगार को वह निमन्त्रण करती हुई कहती है तारक! वस्त्र या पात्र या अन्न अथवा पानी ग्रहण करे।

३१. णीवारमेवं बुज्झेज्जा
णो इच्छे अगारमागंतुं ।
बद्धे विसयपासेहिं
मोहमावज्जइ पुणो मंदे ।।
—त्ति बेमि

भिक्षु इसे नीवार समझे। घर आने की इच्छा न करे। विषय-पाश में बंधने वाला मन्द पुरुष पुनः मोह में लौट आता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

बीओ उद्देसो

द्वितीय उद्देशक

३२. ओए सया ण रज्जेज्जा
भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा ।
भोगे समणाण सुणेहा
जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ।।

ओजवान् सदा अनासक्त रहे। भोग-कामी पुनः विरक्त हो जाये। श्रमणों के भोगों को सुनो, जैसा कुछ भिक्षु भोगते हैं।

३३. अह तं तु भेयमावण्णं
मुच्छियं भिक्खुं काममइवट्टं ।
पलिभिंदियाण तो पच्छा
पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति ।।

(स्त्रियाँ उस) भेद विज्ञान शून्य, मूर्च्छित एवं काम में अतिप्रवृत्त भिक्षु को वश में करने के पश्चात् पैर से उसके मस्तिष्क पर प्रहार करती हैं।

३४. जइ केसियाए मए भिक्खु !
णो विहरे सहणमित्थीए ।
केसे वि अहं लुंचिस्सं
णण्णत्थ मए चरिज्जासि ।।

वह कहती है— भिक्षु ! मेरे केशों के कारण यदि तुम मेरे साथ विहरण करना नहीं चाहते तो मैं केशलुंचन भी कर लूंगी। तुम मुझे छोड़कर अन्यत्र विचरण मत करो।

३५. अह णं से होइ उवलद्धो
तो पेसंति तहाभूएहिं ।
अलाउच्छेयं पेहेहि
वग्गुफलाइं आहराहि त्ति ॥

जब भिक्षु उसे उपलब्ध हो जाता है तब उसे इधर-उधर प्रेषित करती है। (वह कहती है) लौकी काटो, उत्तम फल लाओ ।

३६. दारूणि सागपागाए
पज्जोओ वा भविस्सई राओ ।
पायाणि य मे रयावेहि
एहि य ता मे पिट्ठिं उम्मद्दे ॥

शाक पकाने के लिए काष्ठ (लाओ जिससे) रात्रि में प्रकाश भी होगा । मेरे पैर रचाओ और आओ मेरी पीठ मल दो ।

३७. वत्थाणि य मे पडिलेहेहि
अण्णं पाणमाहराहि त्ति ।
गंधं च रओहरणं च
कासवगं च समणुजाणाहि ॥

मेरे वस्त्रों का प्रतिलेख करो । अन्न पान ले आओ । गंध एवं रजोहरण लाओ । नापित को भी बुलाओ ।

३८. अदु अंजणि अलंकारं
कुक्कययं मे पयच्छाहि ।
लोद्धं च लोद्धकुसुमं च
वेणुपलासियं च गुलियं च ॥

अन्जनी, अलंकार और वीणा लाओ । लोध्र व लोध्र-कुसुम, बासुरी और गुटिका लाओ ।

३९. कोट्ठं तगरं अगरुं च
संपिट्ठं सह उसीरेणं ।
तेल्लं मुहे भिलिगाय
वेणुफलाइं सण्णिहाणाए ॥

कोष्ठ तगर, अगर, उशीर से संपृष्ट चूर्ण, मुँह पर लगाने के लिए तेल एवं बांस की संदूक लाओ ।

४०. णंदीचुण्णगाइं पाहराहि
छत्तोवाहणं च जाणाहि ।
सत्थं च सूवच्छेज्जाए
आणीलं च वत्थं रयवेहि ॥

नंदी-चूर्ण छत्र उपानत् एवं सूप छेदन के लिए शस्त्र लाओ । नील से वस्त्र रंग दो ।

४१. सुफणिं च सागपागाए
आमलगाइं दगाहरणं च ।
तिलगकरणिं अंजणसलागं
घिंसु मे विहुयणं विजाणाहि ।।

शाक पकाने के लिए सूफणि (पात्र), आंवले, घर, तिलक करणी, अंजन-शलाका तथा ग्रीष्म ऋतु के लिए पंखा लाओ ।

४२. संडासगं च फणिहं च
सीहलिपासगं च आणाहि ।
आयंसगं च पयच्छाहि
डंतपक्खालणं पवेसाहि ।।

संदशक, कंघी और केश कंकण लाओ दर्पण प्रदान करो । दन्त-प्रक्षालन का साधन दो ।

४३, पूयफलं तंबोलं च
सूई-सुत्तगं च जाणाहि ।
कोसं च मोहमेहाए
सुप्पुक्खल-मुसल-खारगलणं च ।।

सुपारी, ताम्बूल सुई-धागा, मूत्र-पात्र, मोय मेह (पीकदान) सूप, ऊखल एवं गालन के लिए पात्र लाओ ।

४४. चदालगं च करगं च
वच्चघरगं च आउसो! खणाहि ।
सरपायगं च जायाए
गोरहगं च सामणेराए ।।

आयुष्मान् ! पूजा-पात्र और लघु-पात्र लाओ । शौचालय का खनन करो । पुत्र के लिए शरपात (धनुप) एवं श्रामणेर के लिए गोरथक (तीन वर्ष का बैल) लाओ ।

४५. घडिगं सह डिंडिमयंच
चेलगोलं कुमारभूयाए ।
वासं समभिआवण्णं
आवसहं जाणाहि भत्ता ! ।।

कुमार के लिए घंटा, डमरू, और वस्त्र से निर्मित गेंद लादो । भर्ता ! देखो वर्षा ऋतु सन्निकर है, अतः आवास की शोध करो ।

४६. आसंदियं च णवसुत्तं
पाउल्लाइं संकमट्ठाए ।
अदु पुत्तदोहलट्ठाए
आणप्पा हवंति दासा वा ।।

नव सूत्र निर्मित आसन्दिक (चारपाई) और संक्रमार्थ/चलने के लिए काष्ठ-पादुका लाओ । पुत्र-दोहद पूर्ति के लिए भी वे दास की तरह आज्ञापित होते हैं ।

४७. जाए फले समुप्पण्णे
गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि ।
अह पुत्तपोसिणो एगे
भारवहा हवंति उट्टा वा ।

पुत्र उत्पन्न होने पर आज्ञा देती है इसे ग्रहण करो अथवा छोड़ दो । इस तरह कुछ पुत्र-पोषक ऊँट की तरह भारवाही हो जाते हैं ।

४८. राओ वि उट्ठिया संता
दारगं संठवंति धाई वा ।
सुहिरीमणा वि ते संता
वत्थधुवा हवंति हंसा वा ।।

रात्रि में जागृत होने पर पुत्र को धाय की तरह पुनः सुलाते हैं । वे लज्जित होते हुए भी रजक की तरह वस्त्र प्रक्षालक हो जाते हैं ।

४९. एवं बहुहिं कयपुव्वं
भोगत्थाए जेऽभियावण्णा ।
दासे मिए व पेस्से वा
पसुभूए व से ण वा केई ।।

इस प्रकार पूर्व में अनेकों ने ऐसा किया है । जो भोगासक्त हैं वे दास, मृग एवं पशुवत् हो जाते हैं । वे पशु के अतिरिक्त कुछ नहीं हो पाते ।

५०. एवं खु तासु विण्णप्पं
संथवं संवासं च चएज्जा ।
तज्जातिया इमे कामा
वज्जकरा य एव मक्खाया ।।

इस प्रकार उन (स्त्रियों) के विषय में विज्ञापित किया गया । भिक्षु स्त्री सं-स्तव एवं संवास का त्याग करे । ये काम वृद्धिगत है, इन्हें वर्ज्यकर कहा गया है ।

५१. एवं भयं ण सेयाए
इइ से अप्पगं णिरुंभित्ता ।
णो इत्थि णो पसुं भिक्खू
णो सयं पाणिणा णिलिज्जेज्जा ।।

ये भयोत्पादक है । श्रेयस्कर नहीं है । अतः भिक्षु आत्म-निरोध करके स्त्री, पशु, स्वयं एवं प्राणियों (के गुह्यांगो) का स्पर्श न करे ।

५२. सुविसुद्धलेसे मेहावी
परकिरियं च वज्जए णाणी ।
मणसा वयसा काएणं
सव्वफाससहे अणगारे ।।

विशुद्ध लेश्यी, मेघावी, ज्ञानी परक्रिया (स्त्री-सेवन) न करे । वह अनगार मन, वचन और काया से सभी स्पर्शों को सहन करे ।

५३. इच्चेवमाहु से वीरे
धुयरए धुयमोहे से भिक्खू ।
तम्हा अज्झत्थविसुद्धे
सुविमुक्के आमोक्खाए
परिव्वएज्जासि ।।

—त्ति बेमि ।

इस तरह वीर ने कहा है—राग और मोह को धुनने वाला भिक्षु है । इसलिए अध्यात्म-विशुद्ध सुविमुक्त भिक्षु आमोक्ष परिव्रजन करे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

पंचमं अज्झयणं

णरयविभत्ति

पंचम अध्ययन

नरक विभक्ति

आमुख

प्रस्तुत अध्याय नरक विभक्ति है। यह इस ग्रन्थ का वह विभाग है जिसमें नरकवास का सांगोपांग छायांकन है।

सहायक सदा मोक्ष का अभिलाषी होता है। साधना एक सुदीर्घ यात्रा है। सम्भव है उसे इस यात्रा के दौरान थकान दूर करने के लिए वीच-वीच में विश्राम भी लेना पड़े। विश्राम नई स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए एक सहभागी भूमिका है। यदि किसी साधक को एक जन्म में की जाने वाली साधना से मुक्ति लाभ न हो तो यात्रा को निष्फल न समझा जाये। यात्रा की सुदीर्घता को समझते हुए बीच-बीच में पड़ाव भी डालने पड़ सकते हैं। इन पड़ावों का ही उपनाम पुनर्जन्म है। वह अपने दूसरे जन्म में स्वर्ग की खुशहालियाँ भी पा सकता है और मनुष्य देह में लौटकर देहातीत होने की साधना को पुनरुज्जीवित कर शाश्वत गंतव्य के द्वार पर दस्तक भी दे सकता है। यह प्रक्रिया उन साधकों के लिए ही है जो जीवन-मुक्ति के लिए सर्वतोभावेन न्योछावर हैं। पर जो साधक साधना मार्ग में आने वाली प्रतिकूलताओं और बाधाओं के बीयावने जंगल से घबरा कर उल्टे पाँव भागने लगते हैं या स्त्रियों को जहाँ-तहाँ देखकर वायु से आहत लता की तरह अस्थितात्मा हो जाते है, उन्हें नरकवास की ओर खींच लिया जाता है। आम जीव नरक की भीषण नृशंस यातनाओं से गुजरे तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु साधना मार्ग की ओर कदम बढ़ाने वाले व्यक्ति का नरकवास साधना के आदर्श मापदंडों का खुल्ला अपमान है।

अक्षम्य खोटे-खोटे काम करना, दूसरों को तड़फाने और मारने में सक्रिय रहना मर्यादाओं की ठेठ अवहेलना करना स्वयं को नरक के नाले में झकझोरवाना है। वेदना की अंतहीनता से वहीं साक्षात्कार होता है। नरक से पराकाष्ठ वेदना और कहाँ मिलेगी। वहाँ क्षणिक सुख का दर्शन तो दूर आश्वासन भी नहीं है। सम्पूर्ण नरकवास में वेदना और पीड़ा का काला पानी ही काला पानी भरा है। वहाँ ऐसा अंधकार है जिसका जन्म तो है किन्तु मृत्यु नहीं। मैत्री, सत्य, मधुरता और संयम की निष्ठा को दृढ़तर और उज्ज्वलतर बनाना जीवन को नरकवास से कोसों दूर रखना है। ईमानदारी के साथ अध्यात्म साधना करने वाला कैवल्य-लाभ अवश्य प्राप्त करता है।

पढमो उद्देसो

प्रथम उद्देशक

१. पुच्छिस्सऽहं केवलियं महेसिं
कहंऽभितावा णरगा पुरत्था ?
अजाणओ मे मुणि बूहि जाणं
कहं णु बाला णरगं उवेंति ?

मैंने केवली महर्षि से पूछा कि नरक में क्या अभिताप है। मुने! मैं इस तथ्य से अनभिज्ञ हूं आप अभिज्ञ हैं। अतः कहें कि अज्ञानी नरक में कैसे जाते हैं।

२. एवं मए पुट्ठे महाणुभावे
इणमब्बवी कासवे आसुपण्णे।
पवेयइस्सं दुहमट्ठदुग्गं
आदीणियं दुक्कडिणं पुरत्था ॥

मेरे द्वारा ऐसा पूछने पर महानुभाव, आशुप्रज्ञ, काश्यप ने यह कहा कि यह दुर्ग/विषम एवं दुःखदायी है। जिसमें दीन एवं दुराचारी जीव रहते हैं, मैं प्रवेदित करूंगा।

३. जे केइ बाला इह जीवियट्ठी
पावाइं कम्माइं करेंति रुद्दा।
ते घोररूवे तिमिसंधयारे
तिव्वाभितावे णरए पडंति ॥

इस संसार में कुछ जीवितार्थी मूढ़ जीव रौद्र पाप कर्म करते हैं, वे घोर, सघन अन्धकारमय, तीव्र सन्तप्त नरक में गिरते हैं।

४. तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य
जे हिंसई आयसुहं पडुच्चा।
जे लूसए होइ अदत्तहारी
ण सिक्खई सेयवियस्स किंचि ॥

जो आत्म-सुख के निमित्त त्रस और स्थावर जीवों की तीव्र हिंसा करता है, भेदन करता है, अदत्ताहारी है और सेवनीय का किंचित् अभ्यास नहीं करता है।

५. पागब्भि पाणे बहुणं तिवाई
अणिव्वुडे घायमुवेइ बाले।
णिहो णिसं गच्छइ अंतकाले
अहोसिरं कट्टु उवेइ दुग्गं ॥

प्रमादी अनेक प्राणियों का अतिपाती, अनिवृत्त एवं अज्ञानी आघात पाता है। अन्तकाल में नीचे रात्रि की ओर जाता है और अधोशिर होकर नरक में उत्पन्न होता है।

६. हण छिंदह भिंदह णं दहेह
सद्दे सुणित्ता परधम्मियाणं ।
ते णारगा ओ भयभिण्णसण्णा
कंखंति कं णाम दिसं वयामो ?

हनन करो, छेदन करो, भेदन करो, जलाओ—परमाधर्मियों के ऐसे शब्द सुनकर वे नैरयिक भय से असंज्ञी हो जाते हैं और आकांक्षा करते हैं कि हम किस दिशा में चले।

७. इंगालरासिं जलियं सजोइं
तत्तोवमं भूमिमणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति
अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठिईया ॥

वे प्रज्वलित अङ्गार राशि के समान ज्योतिमान् भूमि पर चलते हैं, दह्यमान करुण क्रन्दन करते हैं। वहाँ चिरकाल तक रहते हैं।

८. जइ ते सुया वेयरणीऽभिदुग्गा
णिसिओ जहा खुर इव तिक्खसोया ।
तरंति ते वेयरणीऽभिदुग्गां
उसुचोइया सत्तिसु हम्ममाणा ॥

तुमने क्षुरे जैसी तीक्ष्ण श्रोता अति दुर्गम वैतरणी नदी का नाम सुना होगा। बाणों से छेदित एवं शक्ति से हन्यमान वे दुर्गम वैतरणी नदी में तैरते हैं।

९. कीलेहिं विज्झंति असाहुकम्मा
णावं उविंते सइविप्पहूणा ।
अण्णे तु सूलाहिं तिसूलियाहिं
दीहाहि विद्धूण अहे करेंति ॥

वहाँ क्रूरकर्मी नौका के निकट आते ही उन स्मृति विहीन जीवों के कण्ठ कील से बींधते हैं। अन्य उन्हें दीर्घ शूलों और त्रिशूलों से बींधकर गिरा देते है।

१०. केसिं च बंधित्तु गले सिलाओ
उदगंसि बोलेंति महालयंसि ।
कलंबुयावालुयमुम्मुरे य
लोलंति पच्चंति य तत्थ अण्णे ॥

कुछ जीवों के गले में शिला बांधकर उन्हें गहरे जल में डूबो देते हैं। फिर कलम्बु पुष्प के समान लाल गर्म बालु में और मुर्मराग्नि में उन्हे लोट-पोट करते हैं, पकाते हैं।

११. असूरियं णाम महाभितावं
अंधं तमं दुप्पतरं महंतं ।
उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु
समाहिओ जत्थगणी झियाइ ॥

महासंतापकारी, अन्धकाराच्छादित, दुस्तर तथा सुविशाल असूर्य नामक नरक है जहाँ उर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् दिशाओं में अग्नि धधकती रहती है।

१२. जंसी गुहाए जलणेऽतिउट्ठे
अविजाणओ डज्झइ लुत्तपण्णो ।
सया य कलुणं पुण घम्मठाणं
गाढोवणीयं अइदुक्खधम्मं ॥

जिस गुफा में लुप्तप्रज्ञ, अविज्ञायक, सदा करुण एवं ज्वलनशील स्थान के अति दुःख को प्राप्तकर नारक जलने लगता है।

१३. चत्तारि अगणीओ समारभेत्ता
जहिं कूरकम्माऽभितवेंति बालं ।
ते तत्थ चिट्ठंतऽभितप्तमाणा
मच्छा व जीवंतुवजोइपत्ता ॥

क्रूरकर्मा चतुराग्नि प्रज्वलितकर नारक को अभितप्त करते हैं। वे अभितप्त होकर वहाँ वैसे ही रहते हैं जैसे अग्नि में जीवित मछलियाँ।

१४. संतच्छणं णाम महाभितावं
ते णारगा जत्थ असाहुकम्मा ।
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं
फलगं व तच्छंति कुहाडहत्था ॥

संतक्षण नामक महाभितप्त नरक है, जहाँ अशुभकर्मी नारकियों को हाथ एवं पैर बांधकर हाथ में कुठार लेकर उन्हें फलक की तरह छीला जाता है।

१५. रुहिरे पुणो वच्च-समुस्सियंगे
भिण्णुत्तमंगे परिवत्तयंता ।
पयंति णं णेरइए फुरंते
सजीवमच्छे व अयो-कवल्ले ॥

रुधिर से लिप्त, मल से लतपथ, भिन्नांग एवं परिवर्त्तमान नैरयिकों को कड़ाही में जीवित मछलियों की तरह उलट-पलट कर पकाते हैं।

१६. णो चेव ते तत्थ मसीभवंति
ण मिज्जई तिव्वभिवेयणाए ।
तमाणुभागं अणुवेदयंता
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥

वे वहाँ राख नहीं होते हैं और न ही तीव्र वेदना से मरते हैं। वे अपने कृत्-कर्म का वेदन करते हैं और वे दुःखी दुष्कृत् से और अधिक दुःखी होते हैं।

१७. तहिं च ते लोलणसंपगाढे
गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति ।
ण तत्थ सायं लहतीऽभिदुग्गे
अरहियाभितावे तह वी तवेंति ॥

वहाँ शीत से सन्त्रस्त होकर प्रगाढ़ सुतप्त अग्नि की ओर जाते हैं। वहाँ उस दुर्गम स्थान में वे साता प्राप्त नहीं कर पाते। वे निरन्तर अभितप्त स्थान में तपाये जाते हैं।

१८. से सुच्चई णगरवहे व सद्दे दुहोवणीयाणि पयाणि तत्थ । उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा पुणो पुणो ते सरहं दुहेंति ॥	वहाँ दुःखोपनीत शब्द नगरवध की तरह सुनाई देते हैं। उदीर्णकर्मी उदीर्णकर्मियों को पुनः - पुनः दुख देते हैं।
१९. पाणेहि णं पाव विओजयंति तं भे पवक्खामि जहातहेणं । दंडेहि तत्था सरयंति बाला सव्वेहि दंडेहि पुराकएहिं ॥	वे पापी प्राणों का वियोजन करते हैं। यथार्थ कारण तुम्हें बताऊँगा। अज्ञानी दण्ड से संतप्त कर पूर्वकृत सर्व पापों का स्मरण कराते हैं।
२०. ते हम्ममाणा णरगे पडंति पुण्णे दुरूवस्स महाभितावे । ते तत्थ चिट्ठंति दुरूवभक्खी तुट्टंति कम्मोवगया किमीहिं ॥	वे हन्यमान महाभिताप होने पर दुरुप-पूर्ण नरक में गिरते हैं, वे दुरुव/माँस भक्षी हो जाते हैं। कर्मवशात् कृमियों द्वारा काटे जाते हैं।
२१. सया कसिणं पुण घम्मठाणं गाढोवणीयं अइदुक्खधम्मं । अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं वेहेण सीसं सेऽभितावयंति ॥	उनका सम्पूर्ण स्थान सदा तप्त एवं अति दुःखमय है। वे उन्हें बेड़ियों में कैदकर उनके शरीर एवं सिर को छेदित कर अभिताप देते हैं।
२२. छिंदंति बालस्स खुरेण णक्कं ओट्ठे वि छिंदंति दुवे वि कण्णे। जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमेत्तं तिक्खाहि सूलाहि भितावयंति ।।	वे उस अज्ञानी के नाक, ओठ और कान छुरे से काट देते हैं। जिह्वा को वित्त मात्रा में बाहर निकाल कर तीक्ष्ण शूलों से अभिताप देते हैं।
२३. ते तिप्पमाणा तलसंपुड व्व राइंदियं तत्थ थणंति बाला । गलंति ते सोणियपूयमंसं पज्जोइया खारपदिद्धियंगा ॥	वे मूढ़ तल (ताड़-पत्र) संपुट की तरह संपुटित कर देने पर रात-दिन क्रन्दन करते हैं। तप्त तथा क्षारप्रदिग्ध अङ्गों से मवाद, मांस और रक्त गिरता है।

२४. जइ ते सुआ लोहियपूयपाई
बालागणी तेयगुणा परेणं ।
कुंभी महंताऽहियपोरुसीया
समूसिया लोहियपूयपुण्णा ।।

यदि तुमने सुना हो, वहाँ पुरुष से भी अधिक प्रभावशाली और ऊँची एक कुम्भी है। वह रक्त और मवाद की पाचक, नव प्रज्वलित अग्नि अभितप्त और रक्त तथा मवाद से पूर्ण है।

२५. पक्खिप्प तासुं पययंति बाले
अट्टस्सरे ते कलुणं रसंते ।
तण्हाइया ते तउतंबतत्तं
पज्जिज्जमाणट्टयरं रसंति ।।

वे उन आर्तस्वरी तथा करुणाक्रन्दी अज्ञानी नारकियों को कुम्भी में प्रक्षिप्त-कर पकाते हैं। वहाँ पिपासातुर होने पर शीशा एवं ताम्बा पिलाने पर वे आर्तस्वर करते हैं।

२६. अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता
भवाहमे पुव्वसए सहस्से ।
चिट्ठंति तत्था बहुकूरकम्मा
जहाकडे कम्म तहा से भारे ।।

पूर्ववर्ती अधमभवों में हजारोंवार अपने आपको छलकर वे बहुक्रूरकर्मी वहाँ रहते हैं। जैसा कृत्कर्म होता है वैसा ही उसका भार/फल होता है।

२७. समज्जिणित्ता कलुसं अणज्जा
इट्ठेहिं कंतेहि य विप्पहूणा ।
ते दुब्भिगंधे कसिणे य फासे
कम्मोवगा कुणिमे आवसंति ।।
—त्ति बेमि

इष्ट-कांत विषयों से विहीन अनार्य कलुषता उपार्जित कर एवं कर्मवशवर्ती होकर कृष्ण-स्पर्शी और दुर्गंधित अपवित्र स्थान में निवास करते हैं।
—ऐसा मैं कहता हूँ।

बीओ उद्देसो

द्वितीय उद्देशक

२८. अहावरं सासयदुक्खधम्मं
तं भे पवक्खामि जहातहेणं ।
बाला जहा दुक्कडकम्मकारी
वेयंति कम्माइं पुरेकडाइं ।।

अब मैं शाश्वत दुःखधर्मी द्वितीय नरक के सम्बन्ध में यथातथ्य कहूँगा अज्ञानी जैसे दुष्कर्म करते हैं वैसे ही पूर्वकृत कर्मों का वेदन करते हैं।

२६, हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं
उदरं विकत्तंति खुरासिएहिं ।
गेण्हित्तु बालस्स विहत्तु देहं
वद्धं थिरं पिट्ठउ उद्धरंति ।।

हाथ और पैर बांधकर उनका पेट छुरे एवं तलवार से काटते हैं। उस अज्ञानी के शरीर को पकड़कर क्षत-विक्षत कर पीठ की स्थिरता को तोड़ देते हैं ।

३०. बाहू पकत्तंति य मूलओ से
थूलं वियासं मुहे आडहंति ।
रहंसि जुत्तं सरयंति बालं
आरुस्स विज्झंति तुदेण पिट्ठे ।।

वे नारक की बाहु समूल काट देते हैं। उसके मुँह को स्थूल गोलों से जलाते हैं। उस अज्ञानी को रथ में योजित कर चलाते हैं एवं रुष्ट होने पर पीठ पर कोड़े मारते हैं ।

३१. अयं व तत्तं जलियं सजोइं
तओवमं भूमिमणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति
उसुचोइया तत्तजुगेसु जुत्ता ।।

लौह के समान तप्त, ज्वलित, सज्योति भूमि पर चलते हुए वेदह्यमान नारक करुण क्रन्दन हैं। वे बाण से बींधे जाते है एवं तप्त जूए में योजित किये हैं।

३२. बाला बला भूमिमणुक्कमंता
पविज्जलं लोहपहं व तत्तं ।
जंसीऽभिदुग्गंसि पवज्जमाणा
पेसे व दंडेहि पुरा करेंति ।।

वे उन अज्ञानियों को रुधिर एवं मवाद से सनी लौह पथ की तरह तप्त भूमि पर बलात् चलाते हैं। वे उस दुर्गम स्थान पर चलते हुए बैल की तरह आगे ढकेले जाते हैं ।

३३. ते संपगाढंसि पवज्जमाणा
सिलाहि हम्मंति भिपातिणीहिं ।
संतावणी णाम चिरट्ठिईया
संतप्पई जत्थ असाहुकम्मा ।।

बहुवेदनामय मार्ग पर गमनशील नारकी सम्मुख गिरने वाली शिलाओं से मारे जाते हैं। सन्तापिनी नामक चिरस्थित एक कुम्भी है, जहाँ असाधु कर्मी संतप्त होते हैं ।

३४. कंदूसु पक्खिप्प पयंति बालं
तओ विदड्ढा पुण उप्पयंति ।
ते उड्ढकाएहि पखज्जमाणा
अवरेहि खज्जंति सणप्फएहिं ।

वे नारक को कड़ाही में प्रक्षिप्त कर पकाते हैं। तब वे विदग्धमान ऊपर उछलने लगते हैं। उन्हें द्रोण काक अथवा हिंस्र पशु खा जाते हैं।

३५. संमूसियं णाम विधूमठाणं
जं सोयतत्ता कलुणं थणंति ।
अहोसिरं कट्टु विगत्तिऊणं
अयं व सत्थेहि समूसर्वेति ॥

वहाँ एक अति उच्च निर्धूम अग्नि स्थान है। वहाँ वे शोक-तप्त करुण क्रन्दन करते है। बकरे की तरह उनके सिर को नीचा कर खण्ड-खण्ड कर देते हैं।

३६. समूसिया तथ्य विसूणियंगा
पक्खीहि खज्जंति अग्रोमुहेहिं ।
संजीवणी णाम चिरट्ठिईया
जंसी पया हम्मइ पावचेया ॥

वहाँ खण्ड-खण्ड में विभक्त एवं त्वचा रहित उन जीवों को लौह चंचुक पक्षी-गण खा जाते हैं। जिसमें पापचेता प्रजा पीड़ित की जाती है ऐसी संजी-वनी भूमि चिरस्थितिवाली है।

३७. तिक्खाहि सूलाहिऽभितावयंति
वसोवगं सावययं व लद्धं ।
ते सूलविद्धा कलुणं थणंति
एगंतदुक्खं दुहग्रो गिलाणा ॥

वेवशवर्ती नारक को प्राप्तकर श्वाप-दवत् तीक्ष्ण शूलों से पीड़ित करते हैं। वे शूल विद्ध करुण रुदन करते हैं। वे एकान्त दुःखी तथा द्विविध/कायिक एवं मानसिक/ग्लान होते हैं।

३८. सयाजलं ठाण णिहं महंतं
जंसी जलंतो अगणी अकट्ठो ।
चिट्ठंति बद्धा बहुकूरकम्मा
अरहस्सरा केइ चिरट्ठिईया ॥

नरक में सदा प्रज्वलित विशाल-वध स्थल है। जिसमें बिना काष्ठ अग्नि जलती है। वहाँ बहुक्रूरकर्मी निवास करते हैं, कुछ चिरस्थित नारक उच्च क्रन्दन करते हैं।

३९. चिया महंतीउ समारभित्ता
छुब्भंति ते तं कलुणं रसंतं ।
आवट्टई तत्थ असाहुकम्मा
सप्पी जहा पडियं जोइमज्झे ॥

वे महती चिता का समारम्भकर करुण क्रन्दी नारकों को उसमें फेंक देते हैं। वहाँ अग्नि में सिंचित घी की तरह अशुभकर्मी नारक पिघल जाता है।

४०, सया कसिणं पुण घम्मठाणं
गाढोवणीयं अइदुक्खधम्मं ।
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं
सत्तु व दंडेहि समारभंति ॥

वह सम्पूर्ण स्थान सदा तप्त, अति दुःखधर्मी है। जहाँ हाथ पैर बांधकर वे शत्रु की तरह डंडों से पीटते हैं।

४१. भंजंति बालस्स वहेण पिट्ठिं
सीसं पि भिंदंति अयोघणेहिं ।
ते भिण्णदेहा फलगं व तट्ठा
तत्ताहि आराहि णियोजयंति ।।

अज्ञानी की पीठ प्रहार से भग्न की जाती है और शिर लौह घन से भेदित होता हैं। वे भिन्न देही फलक की तरह तप्त आरों से नियोजित किये जाते है।

४२. अभिजुंजिया रुद्द असाहुकम्मा
उसुंचोइया हत्थिवहं वहंति ।
एगं दुरूहित्तु दुवे तओ वा
आरुस्स विज्झंति ककाणओ से ।।

उस असाधुकर्मी रुद्र के बाण चुभाकर वे उससे हस्ति योग्य भार वहन कराते हैं। उसकी पीठ पर एक, दो या तीन नरकपाल बैठकर मर्म स्थान को बीध डालते हैं।

४३. बाला बला भूमिमणुक्कमंता
पविज्जलं कंटइलं महंतं ।
विबद्धतप्पेहिं विसण्णचित्ते
समीरिया कोट्टबलिं करेंति ।।

वे अज्ञानी को प्रविज्जल एवं कंटकाकीर्ण भूमि पर बलात् चलाते हैं। विविध बन्धनों से बाँधते हैं। मुच्छित होने पर उन्हें कोट्टबलि की तरह चारों ओर फेंक देते हैं।

४४. वेयालिए णाम महाभितावे
एगायए पव्वयमंतलिक्खे ।
हम्मंति तत्था बहूकूरकम्मा
परं सहस्साण मुहुत्तगाणं ।।

नारकीय अन्तरीक्ष में महाभितप्त वैतालिक नामक पर्वत है, वहाँ बहुक्रूरकर्मी नारकीय जीव हजारों बार क्षत-विक्षत होते है।

४५. संबाहिया दुक्कडिणो थणंति
अहो य राओ परितप्पमाणा ।
एगंतकूडे णरए महंते
कूडेण तत्था विसमे हया उ ।।

रात-दिन परितप्तमान वे दुष्कृतकारी पीड़ित होकर क्रन्दन करते हैं। वे उस एकान्त कूट, विस्तृत और विषम नरक में बाँधे जाते हैं।

४६. भंजंति णं पुव्वमरी सरोसं
समुग्गरे ते मुसले गहेउं ।
ते भिण्णदेहा रुहिरं वमंता
ओमुद्धगा धरणितले पडंति ।।

पूर्व के शत्रु रुष्ट होकर मुद्गल और मूसल लेकर उन्हें भग्न करते हैं। वे भिन्नदेही रुधिर वमन करते हुए अधोमुख होकर भूमि पर गिर जाते हैं।

४७. अणासिया णाम महासियाला पगब्भिया तत्थ सयावकोवा । खज्जंति तत्था बहुकूरकम्मा अदूरया संकलियाहि बद्धा ॥	सदा कुपित, बुभुक्षित, धृष्ट और विशालकाय, शृगाल एक दूसरे से स्पृष्ट एवं शृङ्खलाबद्ध बहुक्रूरकर्मी नारकों को खा जाते हैं ।
४८. सयाजला णाम णईऽभिदुग्गा पविज्जला लोहविलीणतत्ता । जंसीऽभिदुग्गंसि पवज्जमाणा एगायताऽणुक्कमणं करेंति ॥	अति दुर्ग, पंकिल और अग्नि के ताप से पिघले हुए लौह के समान तप्त जल युक्त सदाज्वला नामक एक नदी है । वे उस अतिदुर्गम नदी में प्रवाहमान एकाकी ही तैरते हैं ।
४९. एयाइं फासाइं फुसंति बालं णिरंतरं तत्थ चिरट्ठिईयं । ण हम्ममाणस्स उ होइ ताणं एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं ॥	ये दुःख चिरकाल तक अज्ञानी को निरन्तर स्पर्शित करते हैं । हन्यमान का कोई त्राता नहीं है । एक मात्र वह स्वयं ही उन दुःखों का अनुभव करता है ।
५०. जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं तमेव आगच्छइ संपराए । एगंतदुक्खं भवमज्जिणित्ता वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥	पूर्व में जैसा कर्म किया है वही सम्पराय (परभव) में आता है । एकान्त दुःख के भव का अर्जन कर वे दुःखी अनन्त दुःख का वेदन करते हैं ।
५१. एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे ण हिंसए कंचण सव्वलोए । एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ बुज्झेज्ज लोगस्स वसं ण गच्छे ॥	धीर इन नारकीय दुःखों को सुनकर समस्त लोक में किसी की हिंसा न करे । लक्ष्य के प्रति एकान्त द्रष्टा एवं अपरिग्रही होकर लोक का बोध प्राप्त करे, किन्तु वशवर्ती न बने ।
५२. एवं तिरिक्खमणुयामरेसुं चउरंतणंतं तयणूविवागं । स सव्वमेयं इइ वेयइत्ता कंखेज्ज कालं धुयमायरंते ॥	इस तरह तिर्यञ्च, मनुष्य, देव एवं नारक इन चारों में अनन्त विपाक है । वह सभी को ऐसा समझकर धुत का आचरण करता हुआ काल की आकांक्षा करे ।
—त्ति बेमि	—ऐसा मैं कहता हूँ ।

छट्ठं अज्झयणं

महावीरत्थुई

षष्ठ अध्ययन

महावीर स्तुति

आमुख

प्रस्तुत अध्याय का नाम 'महावीर-थुई' है। इसमें महावीर की अनुत्तरताएँ वखानी गई हैं। स्वयं महावीर शब्द भी कम अनुत्तर नहीं है। यह विशेषणों का भी विशेषण है। आदर्शों के लिए भी आदर्श है।

महावीर कोई नाम के महावीर नहीं थे। वीरत्व की सारी वारीकियाँ और ऊँचाईयाँ उनके कदमों एवं नजरों ने इंच-इंच जानी और नापी थी। स्तुतियाँ तो शब्दों के चौखट में वंधकर मुखर होती है, पर महावीर की अनुत्तरता तो निर्वन्ध और शब्दातीत रही है।

जनमानस ने उन्हें तीर्थङ्कर के रूप में निरखा। तीर्थङ्कर तीर्थ का प्रवर्तन करता है पर महावीर / वे मात्र तीर्थङ्कर ही नहीं अपितु स्वयं तीर्थ हैं। स्तुति चाहे तीर्थ की हो या तीर्थङ्कर की दोनों ही करेगी तो आखिर महावीर का ही चरण चुम्वन। महावीर का स्तुति सगान स्तुतिकार के लिए अमृत-स्नान है।

साधक की सारी अङ्गड़ाईयाँ विमोक्षीकरण के लिए हुआ करती है। नरक कहीं उसे दवोच न ले इसके लिए उसका जगी आँख चलना अपरिहार्य है। प्रस्तुत अध्याय के अनुसार महावीर-स्तव नरक से दूरी है। यह तो वह उपजाऊ वीज है जिसे सच्चे हृदय-स्थल में वोने से मानवीय या स्वर्गीय अथवा उससे भी ऊपर की फसलें लहलहाती है। महावीर की स्तुति उनके प्रति अभिव्यक्त होने वाली श्रद्धा की अभिव्यक्ति है। रोजमर्रा की जिन्दगी में उनके गुणों का सम्मान महापुरुषों के महनीय मापदण्डों का मूल्यांकन है।

महावीर-स्तुति मनुष्य की आस्था का आयाम है। अपनी आस्थाओं को दृढ़तर वनाना स्वय के सम्यक्त्व को उज्ज्वलतर वनाने की पहल है। सम्यक्त्व सत्य वोध की नींव है। इसमें रही हुई ढील साधना महल के लिए खतरा है। महावीर के आदर्शों का आठों याम स्तवन करना प्रमत्तताओं की फिसलन से स्वयं को कोसों दूर रखना है। मनुष्य का वीरत्व कायरता की कथरी में दुवककर वैठ सकता है पर जो जिन्दगी के हर कदम पर महावीर को अपने साथ लिये चलता है। वह किसी भी चुनौति से घवरा नहीं सकता। वस्तुतः महावीरत्व साधना नहीं है अपितु साधना को साधने का अनिवार्य अंग है।

पढमो उद्देसो

प्रथम उद्देशक

१. पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य
अगारिणो या परतित्थिया य ।
से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु
अणेलिसं? साहुसमिक्खयाए ।।

श्रमणों, माहणों, गृहस्थों और अन्य तीर्थिकों ने पूछा- वह कौन है जिसने शाश्वत और अनुपम धर्म का समुचित समीक्षण कर निरूपण किया ।

२. कहं व णाणं? कह दंसणं से?
सीलं कहं णायसुयस्स आसि? ।
जाणासि णं भिक्खू! जहातहेणं
अहासुयं बूहि जहा णिसंतं ।।

भिक्षु ! तुम यथातथ्य के ज्ञाता हो, जैसा तुमने सुना है, जैसा निश्चित किया है वैसा कहो— ज्ञात पुत्र का ज्ञान, दर्शन और शील कैसा था ?

३. खेयण्णए से कुसले महेसी
अणंतणाणी य अणंतदंसी ।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स
जाणाहि धम्मं च धियं च पेह ।।

वे क्षेत्रज्ञ, कुशल, महर्षि, अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी थे । उन यशस्वी और चक्षुस्पथ में स्थित ज्ञात पुत्र को तुम जानो और उनके धर्म एवं धैर्य को देखो ।

४. उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पण्णे
दीवे व धम्मं समियं उदाहु ।।

ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उन्हें नित्य अनित्य-दृष्टियों से समीक्षित कर प्रज्ञ ने द्वीप-तुल्य सद्धर्म का कथन किया है ।

५. से सव्वदंसी अभिभूय णाणी
णिरामगंधे धिइमं ठियप्पा ।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं
गंथा अतीते अभए अणाऊ ।।

वे सर्वदर्शी ज्ञानी होकर निरामगन्ध, धृतिमान, स्थितात्मा, सम्पूर्ण लोक में अनुत्तर विद्वान, अपरिग्रही, अभय और अनायु थे ।

६. से भूइपण्णे अणिएयचारी
ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू ।
अणुत्तरं तप्पति सूरिए वा
वइरोयणिंदे व तमं पगासे ।।

वे भूतिप्रज्ञ प्रबुद्ध अनिकेतचारी, संसार-पारगामी, धीर, अनंतचक्षु, तप्त सूर्य-वत् अनुपम देदिप्यमान और प्रदीप्त अग्नि की तरह अंधकार में प्रकाशोत्पादक थे।

७. अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं
णेता मुणी कासवे आसुपण्णे ।
इंदे व देवाण महाणुभावे
सहस्सणेता दिवि णं विसिट्ठे ।।

यह जिनधर्म अनुत्तर है आशुप्रज्ञ काश्यप मुनि इसके नेता हैं। जैसे स्वर्ग में महानुभाव इन्द्र विशिष्ट प्रभावशाली एवं हजारों देवों में नेता होता है।

८. से पण्णया अक्खयसागरे वा
महोदही वा वि अणंतपारे ।
अणाइले या अकसाइ मुक्के
सक्के व देवाहिवई जुईमं ।।

वे प्रज्ञा से समुद्रवत् अक्षय महोदधि से पारगामी अनाविल/विशुद्ध, अकषायी मुक्त तथा देवाधिपति शुक्र की तरह द्युतिमान थे।

९. से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए
सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे ।
सुरालए वा वि मुदागरे से
विरायए णेगगुणोववेए ।।

जैसे सुदर्शन सब पर्वतों में श्रेष्ठ है वैसे ही सुरालय में आनन्ददाता अनेक गुण, सम्पृक्त वेज्ञातपुत्र वीर्य से प्रतिपूर्ण वीर्य हैं।

१०. सयं सहस्साण उ जोयणाणं
तिकंडगे पंडगवेजयंते ।
से जोयणे णवणउति सहस्से
उद्धस्सिए हेट्ठ सहस्समेगं ।।

सुमेरु का प्रमाण एक लाख योजन है। वह तीन काँडों में विभक्त है तथा पांडुक से सुशोभित है। वह निन्यानवें हजार योजन ऊँचा है तथा एक हजार योजन अधोभाग में है।

११. पुट्ठे णभे चिट्ठई भूमिवट्ठिए
जं सूरिया अणुपरिवट्टयंति ।
से हेमवण्णे बहुणंदणे य
जंसी रइं वेययई महिंदा ।।

वह गगनचुम्बी सुमेरु पृथ्वी पर स्थित है। जिसकी सूर्य परिक्रमा करता है। वह हेमवर्णीय एवं बहु आनन्ददायी है। वहाँ महेन्द्र आनंदानुभव करते हैं।

१२. से पव्वए सद्दमहप्पगासे विरायती कंचणमट्ठवण्णे । अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे गिरीवरे से जलिए व भोमे ॥	यह पर्वत अनेक शब्दों से प्रकाशमान है। कंचनवर्णीय है। वह गिरिवर पर्वतों में अनुत्तर है। दुर्गम है और आकाश की तरह दिव्य है।
१३. महीए मज्झम्मि ठिए णगिंदे पण्णायते सूरियसुद्धलेसे । एवं सिरीए उ स भूरिवण्णे मणोरमे जोयति अच्चिमाली ॥	वह नगेन्द्र पृथ्वी के मध्य स्थित है, सूर्य की तरह शुद्ध लेश्या व्यक्त करता है। वह अपने श्रेय से विविध वर्णीय, मनोरम है और रश्मिमालवत् प्रकाशित हो रहा है।
१४. सुदंसणस्सेस जसो गिरिस्स पवुच्चती महतो पव्वतस्स । एतोवमे समणे णाय पुत्ते जाती-जसो-दंसण-णाण-सीले ॥	सुदर्शन पर्वत का यश पर्वतों में श्रेष्ठ कहा जाता है। इसकी उपमा में ज्ञातपुत्र श्रमण, जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील से श्रेष्ठता में उपमित है।
१५. गिरीवरे वा णिसढायताणं रुयगे व सेट्ठे वलयायताणं । ततोवमे से जगभूइपण्णे मुणीण मज्झे तमुदाहु पण्णे ॥	जैसे ऊँचे पर्वतों में निषध तथा वलयाकार पर्वतों में रुचक श्रेष्ठ है। वैसे ही जगत में भूतिप्रज्ञ प्राज्ञ मुनियों के मध्य श्रेष्ठ है।
१६. अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता अणुत्तरं झाणवरं झियाइ । सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं संखेंदुवेगंतवदातसुक्कं ॥	उन्होंने अनुत्तर धर्म प्ररुपित कर अनुत्तर एवं श्रेष्ठ ध्यान ध्याया। जो सुशुक्ल फेन की तरह शुक्ल शंख एव चन्द्रमा की तरह एकांत शुद्ध/शुक्ल है।
१७. अणुत्तरग्गं परमं महेसी असेसकम्मंस विसोहइत्ता । सिद्धिं गतिं साइमणंत पत्ते णाणेण सीलेण य दंसणेण ॥	महर्षि ज्ञात पुत्र ने ज्ञान, शील और दर्शन-बल से समस्त कर्म-विशोधन कर अनुत्तर तथा सादि अनन्त सिद्ध गति को प्राप्त किया।

१८. रुक्खेसु णाते जह सामली वा
जंसी रतिं वेययंती सुवण्णा ।
वणेसु या णंदणमाहु सेट्ठं
णाणेण सीलेण य भूइपण्णे ।।

जैसे वृक्षों में शाल्मली श्रेष्ठ है, जहाँ सुपर्णकुमार रति का अनुभव करते हैं तथा जैसे वनों में नन्दनवन श्रेष्ठ कहा गया है वैसे ही भूतिप्रज्ञ ज्ञान और शील में श्रेष्ठ हैं।

१९. थणियं व सद्दाण अणुत्तरं उ
चंदे व ताराण महाणुभावे ।
गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं
एवं मुणीणं अपडिण्णमाहु ।।

जैसे शब्दों में मेघगर्जन अनुत्तर है, तारागण में चन्द्र महानुभाव/श्रेष्ठ है, गन्धों में चन्दन श्रेष्ठ है वैसे ही मुनियों में अप्रतिज्ञ श्रेष्ठ है।

२०. जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे
णागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठं ।
खोओदए वा रस-वेजयंते
तहोवहाणे मुणि वेजयंते ।।

जैसे समुद्रों में स्वयम्भू, नागों में धरन्द्र और रसों में इक्षु-रस श्रेष्ठ है वैसे ही तपस्वियों में ज्ञात पुत्र श्रेष्ठ है।

२१. हत्थीसु एरावणमाहु णाए
सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा ।
पक्खीसु या गरुले वेणुदेवे
णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ।।

जैसे हाथियों में ऐरावत, मृगों में सिंह, नदियों में गंगा, पक्षियों में वेणुदेव एवं गरुड श्रेष्ठ है वैसे ही निर्वाणवादियों मे ज्ञात पुत्र श्रेष्ठ है।

२२. जोहेसु णाए जह वीससेण
पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु ।
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के
इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ।।

जैसे योद्धाओं में विश्वसेन, पुष्पों में अरविन्द, क्षत्रियों में दंतवक्त्र (चक्रवर्ती) श्रेष्ठ है वैसे ही ऋषियों में वर्धमान श्रेष्ठ है।

२३. दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं
सच्चेसु या अणवज्जं वयंति ।
तवेसु या उत्तम बंभचेरं
लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते ।।

जैसे दानों में अभयदान श्रेष्ठ है, सत्यवचनों में निष्पाप सत्य, तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम है, वैसे ही श्रमण ज्ञात पुत्र लोकोत्तम है।

२४. ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा
सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा ।
णिव्वामसेट्ठा जह सव्व धम्मा
ण णायपुत्ता परमत्थि पाणि ।।

जैसे स्थिति (आयु) में लव सप्तमदेव श्रेष्ठ है, सभाओं में सुधर्म सभा श्रेष्ठ है वैसे ही ज्ञातपुत्र से श्रेष्ठ कोई ज्ञानी नहीं है ।

२५. पुढोवमे धुणइ विगयगेही
ण सण्णिहिं कुव्वइ आसुपण्णे ।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं
अभयंकरे वीर अणंतचक्खू ।।

वे आशुप्रज्ञ पृथ्वीतुल्य थे, विशुद्ध थे और अनासक्त थे उन्होंने संग्रह नहीं किया । उन अभयंकर, वीर और अनन्त चक्षु ने संसार महासागर को तैरकर (मुक्ति पायी) ।

२६. कोहं च माणं च तहेव मायं
लोभं चउत्थं अज्झत्तदोसा ।
एआणि वत्ता अरहा महेसी
ण कुव्वई पाव ण कारवेइ ।।

वे क्रोध, मान, माया और लोभ - इन चार अध्यात्म दोषों को त्यागकर न पापाचरण करते थे, न करवाते थे।

२७. किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं
अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं ।
से सव्ववायं इह वेयइत्ता
उवट्ठिए संजम दीहरायं ।।

ज्ञात पुत्र ने क्रिया, अक्रिया, वैनायिक और अज्ञानवाद के पक्ष की प्रतीति की । इस तरह सभी वादों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर आजीवन संयम में उपस्थित रहे ।

२८. से वारिया इत्थि सराइभत्तं
उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए ।
लोगं विदित्ता अपरं परं च
सव्वं पभू वारिय सव्ववारी ।।

उस उपधान वीर्य ने दुःख-क्षयार्थ रात्रि भोजन सहित स्त्री संसर्ग का वर्जन किया । इह लोक और परलोक दोनों को जानकर सर्ववर्जी ज्ञात पुत्र ने पापों का सर्वथा त्याग कर दिया ।

२९. सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं
समाहियं अट्ठपदोवसुद्धं ।
तं सद्दहाणाय जणा अणाऊ
इंदा व देवाहिव आगमिस्सं ।।
—त्ति बेमि ।

समाहित अर्थ और पद से विशुद्ध अर्हद-भाषित धर्म को सुन, उसे श्रद्धा पूर्वक ग्रहण कर मनुष्य मुक्त होंगे, देवाधिपति इन्द्र होंगे ।
—ऐसा मैं कहता हूँ ।

सत्तमं अज्झयणं

कुसीलपरिभासियं

सप्तम अध्ययन

कुशील परिभाषित

आमुख

प्रस्तुत अध्याय 'कुशील-परिभाषित' है। इसमें कु/सु-शील की चर्चा करते हुए इसकी तरल गहराई को छूने का प्रयास किया गया है। शील आचार और विचार की एक तन्हाई है। जहाँ सु-शील आचार के सम्यक् स्वरूप को उजागर करता है वहीं कु-शील आचार की पावनता में अपनाई जाने वाली कृपणता/बेइमानी है। 'सु' शील की प्रशंसा है और 'कु' उसकी जुगुप्सा।

शील गन्ध है, सुशील सुगन्ध है और कुशील दुर्गन्ध है। अहिंसा-निष्ठ आचरण का अनुशासन ही शील का वास्तविक सौरभ है। अध्यात्म तो आत्मा में विशुद्धता का अनुष्ठान है। जो अन्तरात्मा की विशुद्धता को नजर-अन्दाज कर मात्र बाहरी क्रिया-कलापों में तन्मय और लवलीन रहता है वही कुशील है। सूत्रकार के भावों को चलती भाषा में कहा जाये तो कुशील अपने आप में एक पाखण्ड है।

सुशील पुरुष आध्यात्मिकता एवं नैतिकता का सार्वभौम सम्मान है। जीवन में संघर्ष से जूझने के बावजूद भी उसे कैसा भय और कैसा खतरा। भला शैल कभी आँधी से धराशायी होता है पर हाँ दुर्बल वृक्ष अवश्य हो सकता है। शील की गरिमामयी आदर्श पाषाण कन्दराओं को छोड़कर कुशीलता के दुर्बल वृक्ष के कोटर में अपना डेरा जमाने वाला भला कब तक अपने भविष्य को सुरक्षित रख पाएगा। नदी में डुबकी खा लेने मात्र से अपने आपको निर्मल और मोक्ष का हक-दार मानने वाला अध्यात्म के नाम पर मात्र शील की खिल्ली ही उड़ा रहा है।

शील का आदर्श मापदण्ड तो अहिंसा मूलक सत्य/सत्त्व का आचरण है। सुशील पुरुष कदम-कदम पर जन श्रद्धा का पात्र बनता है। वह जिधर से गुज़रता है उसका गुजरना ही सत्-संगीत का प्रसारण है। यदि वह कुछ उपदेश भी न दे, तब भी उसका मौन और सामीप्य मात्र भी दूसरों को प्रभावित और प्रमुदित करता है। सूरज को कहाँ कहना पड़ता है फूलों को खिलाने के लिए। सूरज का उगना ही तो फूलों का खिलना है। इसलिए सुशीलता के धरातल पर अपने व्य-क्तित्व का निर्माण करना स्वयं में महानता एव मानवता को प्रतिष्ठित करना है। कुशील के लिए गरीमा और सत्कार कहाँ! वह तो विचारा वैसे ही दुत्कारा जाता है, जैसे सड़े कान वाली कुतिया।

स्वयं को कुशीलता से दूर रखकर सुशीलता का अनुष्ठाता बनाना ही इस अध्याय का अन्तर् उद्देश्य है।

पढमो उद्देसो	प्रथम उद्देशक
१. पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ तण रुक्ख बीया य तसा य पाणा। जे अंडया जे य जराउ पाणा संसेयया जे रसयाभिहाणा ॥	पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तृण, बीज और त्रस प्राणी अण्डज, जरायुज, संस्वेदज और रसज है।
२. एयाइं कायाइं पवेइयाइं एएसु जाणे पडिलेह सायं। एएहि काएहि य आयदंडे पुणो-पुणो विप्परियासुवेंति ॥	ये निकाय प्रवेदित हैं। इन्हें जानो एवं इनकी साता को देखो। इन कायों का घात करने वाला पुनः पुनः विपर्यास प्राप्त करता है।
३. जाईपहं अणुपरियट्टमाणे तसथावरे विणिघायमेति। से जाति-जातिं बहुकूरकम्मे जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले।	त्रस और स्थावर जीवों के जातिपथ/विचरणमार्ग में प्रवर्तमान मनुष्य घात करता है। वह अज्ञानी नाना प्रकार के क्रूर कर्म करता हुआ उसी में निमग्न रहता है।
४. अस्सिं च लोए अदुवा परत्था सयग्गसो वा तह अण्णहा वा। संसारमावण्ण परं परं ते बंधंति वेयंतिय दुण्णियाणि ॥	वे प्राणी इस लोक में या परलोक में, तद्रूप में या अन्य रूप में, संसार में आगे से आगे परिभ्रमण करते हुए दुष्कृत का बन्धन एवं वेदन करते हैं।
५. जे मायरं वा पियरं च हिच्चा समणव्वए अगणि समारभिज्जा। अहाहु से लोए कुसीलधम्मे भूयाइ जे हिंसति आयसाते ॥	जो श्रमणव्रती माता-पिता का त्याग अग्नि का समारम्भ करता है एवं आत्म-सुख के लिए प्राणिघात करता है, वह लोक में कुशीलधर्मी कहा गया है।

६. उज्जालओ पाणऽतिवायएज्जा
णिव्वावओ अगणिऽतिवायएज्जा।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं
ण पंडिए अगणि समारभिज्जा ।।

प्राणियों का अतिपात अग्नि ज्वालक भी करता है एवं निर्वापक भी। अतः मेधावी पण्डित धर्म का समीक्षण कर अग्नि-समारम्भ न करे।

७. पुढवी वि जीवा आऊ वि जीवा
पाणा य संपाइम संपयंति ।
संसेयया कट्ठसमस्सिया य
एए दहे अगणि समारभंते ।।

पृथ्वी भी जीव है और जल भी जीव है। [अग्नि में] सम्पातिम प्राणी गिरते हैं। संस्वेदज व काष्ठाश्रित भी जीव हैं, अतः अग्नि-समारम्भ करने वाला इन जीवों का दहन करता है।

८. हरियाणि भूयाणि विलंबगाणि
आहार-देहाइं पुढो सियाइं ।
जे छिंदई आयसुहं पडुच्च
पागब्भि-पण्णो बहुणं तिवाई ।।

हरित जीव आकार धारण करते हैं। वे आहार से उपचित एवं पृथक्-पृथक् हैं। जो आत्म-सुख के लिए इनका छेदन करता है, वह धृष्टप्रज्ञ अनेक जीवों का अतिपाती है।

९. जाइं च वुड्ढिं च विणासयंते
बीयाइ अस्संजय आयदंडे ।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे
बीयाइ जे हिंसइ आयसाये ।।

उत्पत्ति, वृद्धि और बीजों का विनाशक असंयत और आत्म-दंडी है। जो आत्म-सुख के लिए बीजों को नष्ट करता है, वह अनार्यधर्मी कहा गया है।

१०. गब्भाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा
णरा परे पंचसिहा कुमारा ।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य
चयंति ते आउखए पलीणा ।।

कुछ जीव गर्भ में, बोलने, न बोलने की आयु में पंचशिखी कुमारावस्था में मर जाते हैं, तो कुछ युवा, प्रौढ़ और वृद्धावस्था में आयु-क्षय होने पर च्युत हो जाते हैं।

११. संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं
दट्ठुं भयं बालिएणं अलं भे ।
एगंतदुक्खे जरिए हु लोए
सकम्मुणा विप्परियासुवेंति ।।

अतः हे जीवों ! मनुष्यत्व-सम्बोधि प्राप्त करो। भय को देखकर अज्ञान को छोड़ो। यह लोक ज्वर से एकान्त दुःख रूप है। [जीव] स्वकर्म से विपर्यास प्राप्त करता है।

१२. इहेगे मूढा पवयंति मोक्खं आहारसंपज्जणवज्जणेणं । एगे य सीओदगसेवणेणं हुएण एगे पवयंति मोक्खं ॥	इस संसार में कई मूढ़ आहार में नमक-वर्जन से मोक्ष कहते हैं। कुछ शीतल जल-सेवन से और कुछ हवन से मोक्ष-प्राप्ति कहते हैं।
१३. पाओसिणाणाइसु णत्थि मोक्खो खारस्स लोणस्स अणासणेणं । ते मज्जमंसं लसुणं चऽभोच्चा अण्णत्थ वासं परिकप्पयंति ॥	प्रातः स्नानादि से मोक्ष नहीं है, न ही क्षार-लवण के अनशन से है। वे मात्र मद्य, मांस और लहसुन न खाकर अन्यत्र निवास (अमोक्ष) की कल्पना करते हैं।
१४. उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति सायं च पायं उदगं फुसंता । उदगस्स फासेण सिया य सिद्धि सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि ॥	[वे] सायं और प्रात: जल स्पर्शन कर जल से सिद्धि निरूपित करते हैं। पर यदि जल-स्पर्श से सिद्धि प्राप्त हो जाती तो अनेक जलचर प्राणी सिद्ध हो जाते।
१५. मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य मग्गू य इट्टा दगरक्खसा य । अट्ठाणमेयं कुसला वयंति उदगेण सिद्धिं जमुदाहरंति ॥	मत्स्य, कूर्म, जल सर्प, बतख, उद्‌विलाव और जल-राक्षस जल जीव है। जो जल से सिद्धि प्ररूपित करते हैं उन्हें कुशल-पुरुष 'अयुक्त' कहते हैं।
१६. उदगं जई कम्ममलं हरेज्जा एवं सुहं इच्छामित्तमेव । अंधं व णेयारमणुस्सरंता पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा ॥	यदि जल कर्म-मलका हरण करता है तो शुभ का भी हरण करेगा, अत: यह बात इच्छाकल्पित है। मन्द लोग अन्धे की तरह नेता का अनुसरण कर प्राणों का ही नाश करते हैं।
१७. पावाइं कम्माइं पकुव्वओ हि सीओदगं तू जइ तं हरेज्जा । सिज्झिसु एगे दगसत्तघाती मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु ॥	यदि पापकर्मी का पाप शीतल जल हरण कर लेता हैं तो जल जीवों के वधिक भी मुक्त हो जाते ! अत: जल-सिद्धिवादी असत्य बोलते हैं।

१८. हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति
सायं च पायं अगणिं फुसंता ।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा
अगणिं फुसंताण कुकम्मिणं पि।।

जो सायं एवं प्रातः अग्नि स्पर्श करते हुए हवन से सिद्धि कहते हैं, पर यदि ऐसे सिद्धि प्राप्त होती तो अग्निस्पर्शी कुकर्मी भी सिद्ध हो जाते ।

१९. अपरिच्छ दिट्ठिं ण हु एव सिद्धी
एहिंति ते घातमबुज्झमाणा ।
भूएहिं जाण पडिलेह सातं
विज्जं गहाय तसथावरेहिं ।।

अपरीक्षित दृष्टि से सिद्धि नहीं है। वे अबुध्यमान मनुष्य. घात प्राप्त करेंगे। अतः त्रस और स्थावर प्राणियों के सुख का प्रतिलेख कर बोध प्राप्त करो ।

२०. थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी
पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू ।
तम्हा विऊ विरए आयगुत्ते
दट्ठूं तसे या पडिसंहरेज्जा ।।

विविधकर्मी प्राणी रुदन करते हैं, लुप्त होते हैं और त्रस्त होते हैं। अतः विद्वान्, विरत और आत्मगुप्त भिक्षु त्रसजीवों को देखकर संहार से निवृत हो जाये ।

२१. जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे
वियडेण साहट्टु य जे सिणाइ ।
जे धोवती लूसयई व वत्थं
अहाहू से णागणियस्स दूरे ।।

जो धर्म से प्राप्त आहार का संचय कर भोजन करते हैं, शरीर-संकोच कर स्नान करता है, वस्त्र धोता है अथवा मलता है वह नग्नता से दूर कहा गया है ।

२२. कम्मं परिण्णाय दगंसि धीरे
वियडेण जीवेज्ज य आदिमोक्खं।
से बीयकंदाइ अभुंजमाणे
विरए सिणाणाइसु इत्थियासु ।।

धीर पुरुप [समारम्भ] जल में कर्म जानकर मोक्ष पर्यन्त अचिन्त जल से जीवन यापन करे । वह बीज, कंद आदि का अनुपभोगी स्नान एवं स्त्री आदि से विरत रहे ।

२३. जे मायरं च पियरं च हिच्चा
गारं तहा पुत्तपसुं धणं च ।
कुलाइं जे धावइ साउगाइं
अहाहु से सामणियस्स दूरे ।।

जो माता-पिता, गृह, पुत्र, पशु एवं धन का त्यागकर के भी स्वादिष्ट-भोजी कुलों की ओर दौड़ता है, वह श्रामण्य से दूर कहा गया है ।

२४. कुलाइं जे धावइ साउगाइं
आघाइ धम्मं उदराणुगिद्धे।
अहाहु से आयरियाण सयंसे
जे लावएज्जा असणस्स हेउं ॥

जो स्वादिष्ट भोजी कुलों की ओर दौड़ता है, उदरपूर्ति के लिए अनुगृद्ध होकर धर्म-आख्यान करता है, भोजन के लिए आत्म-प्रशंसा करता है, वह आर्यों का शतांशी कहा गया है।

२५. णिक्खम्म दीणे परभोयणम्मि
मुहमंगलिओदरियं पगिद्धे।
णीवारगिद्धे व महावराहे
अदूर एवेहिइ घायमेव ॥

जो अभिनिष्क्रमित होकर भोजन के लिए दीन होता है, गृद्ध होकर दाता की प्रशंसा करता है, वह आहार गृद्ध महा-वराह/सुअर-विशेष की तरह शीघ्र ही विनष्ट होता है।

२६. अण्णस्स पाणिस्सिहलोइयस्स
अणुप्पियं भासइ सेवमाणे।
पासत्थयं चेव कुसीलयं च
णिस्सारए होइ जहा पुलाए ॥

जो इहलौकिक अन्नपान के लिए प्रिय वचन बोलता है, वह पार्श्वस्थ भाव और कुशीलता का सेवन करता है वह वैसे ही निःसार होता है, जैसे धान के छिलके।

२७. अण्णायपिंडेणऽहियासएज्जा
णो पूयणं तवसा आवहेज्जा।
सद्देहि रूवेहि असज्जमाणे
सव्वेहि कामेहि विणीय गेहिं ॥

[मुनि] अज्ञानपिण्ड की एषणा करे, सहन करे, तप से पूजा का आकांक्षी न बने। शब्दों और रूपों में अनासक्त रहे। सभी कामों से गृद्धि दूर करे।

२८. सव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे
सव्वाइं दुक्खाइं तितिक्खमाणे।
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी
अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा ॥

धीर भिक्षु सभी संसर्गों का त्यागकर, सभी दुःखों को सहन करता हुआ अखिल अगृद्ध अनिकेतचारी अभयंकर और निर्मल चित्त बने।

२९. भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा
कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमायएज्जा
संगामसीसे व परं दमेज्जा ॥

मुनि [संयम] भार वहन करने के लिए भोजन करे। पाप के विवेक की इच्छा करे, दुःख से स्पृष्ट होने पर शांत रहे और संग्रामशीर्ष की तरह कामनाओं का दमन करे।

३०. अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी
समागमं कंखइ अंतगस्स ।
णिधूय कम्मं ण पवंचुवेइ
अक्खक्खए वा सगडं ति बेमि ॥

—ति बेमि

परीषहों से हन्यमान भिक्षु फलक की तरह शरीर कृश होने पर काल की आकांक्षा करता है। मैं ऐसा कहता हूँ कि वह कर्म-क्षय करने पर वैसे ही प्रपच में गति नहीं करता, जैसे धुरा टूटने पर गाड़ी।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

अट्ठमं अज्झयणं

वीरियं

अष्टम अध्ययन

वीर्य

आमुख

प्रस्तुत अध्याय 'वीर्य' है। वीर्य वल, शक्ति एव पराक्रम का अर्थ धनी है। विश्व में ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं है जिसे सौ फीसदी वीर्य विहीन सिद्ध किया जा सके फिर चाहे वह चेतन हो या अचेतन। पर हाँ समय, स्थिति या स्थान-विशेष के कारण किसी तत्त्व विशेष के वीर्य में तेजी मन्दी आ सकती है।

वीर्य की तीन परम्पराएँ रोजमर्रा जिन्दगी में झांकने को मिलती है—काय-वीर्य, इन्द्रियवीर्य और आत्मवीर्य। अध्यात्म-वल का ही उपनाम आत्मवीर्य है। प्रस्तुत अध्याय अध्यात्म-वीर्य पर प्रकाश डालते हुए पंडितवीर्य, बालवीर्य और वाल पंडित-वीर्य के बोध को मुहैया कराता है। प्राज्ञ-पुरुषों द्वारा किया जाने वाला पराक्रम पडित-वीर्य है। बोध-प्रदीप को हाथ में थामें विना अन्धकार की राह पर वेहोशी पूर्वक चलना वालवीर्य है। वालपंडित वीर्य तो दाल-चाँवल की तरह खिचड़ीनुमा मेल है। शास्त्र-वोध को पाने के वावजूद शास्त्र-सीमा को छेदकर किया जाने वाला आचरण वालपंडित-वीर्य है। यह शास्त्र-अभ्यास नहीं, अपितु शास्त्र विपर्यास है।

प्रस्तुत अध्याय में वीर्य के विभिन्न पहलुओं को छूते हुए अप्रमत्त जागरण को मुख्यता दी है। प्रमाद कर्म-वेड़ी है और अप्रमाद उससे मुक्ति का इंकलाव है। जीवन के साथ कर्म तो प्रतिपग,प्रतिपल सन्नद्ध है। कर्म के क्षरण/वन्धन का मूल सम्वन्ध तो प्रमाद और अप्रमाद,तन्द्रा और जागरूकता है। अध्यात्म तो हर तन्द्रा के पार है। साधक अध्यात्म साधना के लिए सर्वतोभावेन समर्पित होता है। उसके साधना परिघर में प्रमाद-पराक्रम कहाँ आता है! भीतर की आँखों का मूँदे रहना और अपने-आपको श्रमण-साधक कहना अध्यात्म के नाम पर डींगें हांकने के अलावा और क्या है? यह तो उसके लिए कलंक है। साधक का आभूषण तो अप्रमत्त जागरण है।

कर्त्तव्य-पथ पर पाँव वढ़ाने के वाद पथ कंटकों से घवराकर पराक्रम को ठंडा कर देना साधनात्मक जीवन की सबसे वड़ी हार है। सकल्प-शैथिल्य आत्मवीर्य को खुली चुनौति है उसे अपनी वाहरी क्रियाओं और प्रवृत्तियों को करते हुए ध्यान योग को समाहृत कर तब तक अपने चैतन्यवीर्य का अनुक्षण उपयोग करते रहना चाहिये जब तक मोक्ष-महोत्सव की सफलताएँ उसका मस्तकाभिषेक न करे।

पढमो उद्देसो	प्रथम उद्देशक
१. दुहा वेयं सुयक्खायं वीरियं ति पवुच्चई । किण्णु वीरस्स वीरत्तं ? केण वीरो त्ति वुच्चति ? ॥	स्वाख्यात वीर्य दो प्रकार का कहा गया है। वीर का वीरत्व क्या है ? उन्हें वीर क्यों कहा जाता है ?
२. कम्ममेव पवेदेंति अकम्मं वा वि सुव्वया । एएहिं दोहिं ठाणेहिं जेहिं दीसंति मच्चिया ॥	सुव्रतों ने कर्म वीर्य और अकर्मवीर्य प्रतिपादित किया है। इन्हीं दो स्थानों में मर्त्य/प्राणी दिखाई देते हैं।
३. पमायं कम्ममाहंसु अप्पमायं तहावरं । तब्भावादेसओ वा वि बालं पंडियमेव वा ॥	प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म है। बाल या पंडित तो भाव की अपेक्षा से से होता है।
४. सत्थमेगे तु सिक्खंते अइवायाय पाणिणं । एगे मंते अहिज्जंति पाणभूयविहेडिणो ॥	कई लोग प्राणियों के अतिपात के लिए शस्त्र-प्रशिक्षण करते हैं। कई लोग प्राणियों एवं भूतों को वश में करने वाले मंत्रों का अध्ययन करते हैं।
५. माइणो कट्टु मायाओ कामभोगे समारभे । हंता छेत्ता पगब्भिता आय-सायाणुगामिणो ॥	मायावी माया करके काम भोग प्राप्त करते हैं। वे स्व-सुखानुगामी हनन, छेदन और कर्तन करते हैं।

६. मणसा वयसा चेव
कायसा चेव-अंतसो ।
आरओ परओ वा वि
दुहा वि य असंजया ॥

वे असंयती यह कार्य मन, वचन और अन्त में काया से, स्व-पर या द्विविध करते हैं।

७. वेराइं कुव्वई वेरी
तओ वेरेहिं रज्जई ।
पावोवगा य आरंभा
दुक्खफासा य अंतसो ॥

वैरी वैर करता है तत्पश्चात् वैर में राग करता। आरम्भ पाप की ओर ले जाते हैं। अन्त में दुःख स्पर्श होता है।

८. संपरायं णियच्छंति
अत्तदुक्कडकारिणो ।
रागदोसस्सिया वाला
पावं कुव्वंति ते बहुं ॥

आर्त-रूप दुष्कृतकर्मी सम्पराय प्राप्त करते हैं। राग-द्वेष के आश्रित वे अज्ञानी बहुत पाप करते हैं।

९. एयं सकम्मविरियं
वालाणं तु पवेइयं ।
एत्तो अकम्मविरियं
पंडियाणं सुणेह मे ॥

यह अज्ञानियों का सकर्मवीर्य प्रवेदित किया। अब पंडितों का अकर्म वीर्य मुझसे सुनो।

१०. दव्विए वंधणुम्मुक्के
सव्वओ छिण्णवंधणे ।
पणोल्ल पावगं कम्मं
सल्लं कंतइ अंतसो ॥

वन्धन मुक्त एवं वन्धन-छिन्न द्रव्य है। सर्वतः पाप कर्म से विहीन भिक्षु अन्ततः शल्य को काट देता है।

११. णेयाउयं सुयक्खायं
उवादाय समीहए ।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं
असुहत्तं तहा तहा ॥

नैर्यात्रिक/मोक्षमार्गी स्वाख्यात को सुनकर चिन्तन करे। दुःखपूर्ण आवासों को तो ज्यों-ज्यों भोगा जाएगा, त्यों-त्यों अशुभतत्व होगा।

१२. ठाणी विविहठाणाणि
चइस्संति ण संसओ ।
अणितिए अयं वासे
णायए सुहीहि य ॥

निस्सन्देह स्थानी (मोक्ष-मार्गी) अपने विविध स्थानों का त्याग करेंगे। ज्ञातिजनों एवं मित्रों के साथ यह वास अनित्य है।

१३. एवमायाय मेहावी
अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।
आरियं उवसंपज्जे
सव्वधम्ममकोवियं ॥

ऐसा चिन्तन कर मेधावी स्वयं को गृद्धता से उद्धरित करे। सर्वधर्मों में निर्मल आर्य धर्म को प्राप्त करे।

१४. सहसंमइए णच्चा
धम्मसारं सुणेत्तु वा ।
समुवट्ठिए अणगारे
पच्चक्खायपावए ॥

धर्म-सार को अपनी सम्मति से जानकर अथवा सुनकर समुपस्थित/प्रयत्नशील अनगार पाप का प्रत्याख्यानी होता है।

१५. जं किंचुवक्कमं जाणे
आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अंतरा खिप्पं
सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए ॥

अपने आयुक्षेम का जो उपक्रम है, उसे जाने, तत्पश्चात् पण्डित शीघ्र शिक्षा ग्रहण करे।

१६. जहा कुम्मे सअंगाइं
सए देहे समाहरे ।
एवं पावेहिं अप्पाणं
अज्झप्पेण समाहरे ॥

जैसे कछुआ अपने अंगों को अपनी देह में समाहित कर लेता है वैसे ही आत्मा को पापों से अध्यात्म में ले जाना चाहिये।

१७. साहरे हत्थपाए य
मणं सव्विंदियाणि य ।
पावगं च परीणामं
भासादोसं च तारीसं ॥

[मुनि] हाथ, पैर, मन, सर्व-इन्द्रियों, पाप परिणाम/भाव एवं भाषा दोष को संयत करे।

१८. अणु माणं च मायं च
तं परिण्णाय पंडिए ।
सायागारवणिहुए
उवसंते णिहे चरे ।

ज्ञानी उस दोष को जानकर किञ्चित भी मान और माया न करे। वह स्नेह-उपशान्त होकर विचरण करे।

१९. पाणे य णाइवाएज्जा
अदिण्णं पि य णाइए ।
साइयं ण मुसं बूया
एस धम्मे वुसीमओ ॥

प्राणों का अतिपात न करे, अदत्त भी न ले एवं माया-मृषावाद न करे। यही वृषीमत (जितेन्द्रिय) का धर्म है।

२०. अइक्कमंति वायाए
मणसा वि ण पत्थए ।
सव्वओ संवुडे दंते
आयाणं सुसमाहरे ॥

वचन का अतिक्रमण न करे, मन से भी इच्छा न करे। सर्वतः संवृत और दान्त होकर आदान को तत्परता से संयत करे।

२१. कडं च कज्जमाणं च
आगमेस्सं च पावगं ।
सव्वं तं णाणुजाणंति
आयगुत्ता जिइंदिया ॥

आत्म गुप्त, जितेन्द्रिय कृत्, कारित और किये जाने वाले सभी पापों का अनुमोदन नहीं करते हैं।

२२. जे याऽबुद्धा महाभागा
वीरा ऽसम्मत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं
सफलं होइ सव्वसो ॥

जो अबुद्ध महानुभाव वीर एवं असम्यक्त्वदर्शी हैं, उनका पराक्रम अशुद्ध एवं सर्वतः कर्मफल युक्त होता है।

२३. जे उ बुद्धा महाभागा
वीरा सम्मत्तदंसिणो ।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं
अफलं होइ सव्वसो ॥

जो बुद्ध, महाभाग, वीर और सम्यक्त्वदर्शी हैं, उनका पराक्रम शुद्ध और सर्वतः कर्मफल रहित होता है।

२४. तेसिं तु तवोसुद्धो
णिक्खंता जे महाकुला ।
अवमाणिते परेणं तु
ण सिलोगं वयंति ते ॥

जो महाकुल से निष्क्रान्त हैं, वे दूसरों से अपमानित होने पर आत्म प्रशंसा नहीं करते हैं, उनका तप शुद्ध होता है ।

२५. अप्पपिंडासि पाणासि
अप्पं भासेज्ज सुव्वए ।
खंतेऽभिणिव्वुडे दंते
वीतगेही सया जए ॥

सुव्रत अल्पपिण्डी, अल्पजलग्राही तथा अल्पभाषी बने, जिससे वह सदा क्षांत, अभिनिर्वृत्त, दान्त एवं वीतगृद्ध होता है ।

२६. झाणजोगं समाहट्टु
कायं वोसेज्ज सव्वसो ।
तितिक्खं परमं णच्चा
आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥
—त्ति बेमि

ध्यान-योग को समाहृत कर सर्वशः काया का व्युत्सर्ग करे । तितिक्षा को उत्कृष्ट जानकर मोक्ष पर्यन्त परिव्रजन करे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

नवमं अज्झयणं

धम्मो

नवम अध्ययन

धर्म

आमुख

प्रस्तुत अध्याय 'धर्म' है। धर्म न तो मानव-जीवन की भड़कीली पोशाक है और न ही उबासियां खिलाने वाला ऊबाऊ रंगमंच। धर्म तो मानव का व्यक्तित्व है। यह उसकी मौलिकता और गुणवत्ता है। धर्म की रग-रग में धर्म को निमन्त्रित करना स्वयं का संजीवित ज्योतिर्मय दीपावली महोत्सव है, अपने व्यक्तित्व की मौलिकताओं से चूक जाना स्वयं जीवन के प्रति अपनाई जाने वाली वेईमानी है और इसी का नाम अ-धर्म है।

ईमान धर्म है और वेईमानी अधर्म स्वयं के ऊर्ध्वमुखी उज्ज्वल व्यक्तित्व के प्रति वफादार रहने वाला ही स्वय के धर्म/कर्त्तव्य पथ का जागरूक प्रहरी है। हकीकत में ऐसे महापथिकों के लिए ही आत्मशास्ता का कोकिल सम्वोधन परम्परित हुआ है।

धर्म, कर्त्तव्य चाहे गृहस्थ का हो अथवा श्रमण का, उसमें प्रशमरतित्व का अंकुरण एवं पल्ल्लवन तीव्रतर होना चाहिये। वाहर कुछ और भीतर कुछ की उक्ति चरितार्थ करने वाले यदि धर्म की राह पर कदम वढ़ा भी लेते हैं तो भी वे धर्म की गरिमाओं का आलिंगन करना तो दूर उसकी परछाई से भी वे कोसों दूर रह जाते हैं। ऐसे लोगों का व्यक्तित्व नहीं होता मात्र मुखौटा होता है। मुखौटे सत्य नहीं दो मुहें होते हैं। पाखण्ड इसी का नाम है धर्म तो श्रद्धा में है, सद्-विचार एवं सदाचार में है। इन तीनों के सम्मेलन का नाम ही सम्यक् चारित्र है। अगर खो जाये धन तो खोकर भी क्या खोया। जिस दिन शरीर श्मशान की यात्रा करले तो समझें कि जीवन में कुछ खोया है पर अगर जीवन की मुट्ठी से चारित्र छिटककर नीचे गिर जाए तो वह दिन स्वयं के लिए शोक दिवस है, स्वयं पर कुठाराघात है। भला चारित्र को खोने के वाद कुछ वचता ही क्या है! सर्वस्व ही स्वाहा हो चुका। चारित्र को कितावों की शोभा मात्र मानकर जीने वाला व्यक्ति वास्तव में चलता फिरता शव है। चारित्र की उपेक्षा हकीकत में धर्म की अवहेलना है और धर्म की अवहेलना स्वयं के व्यक्तित्व को चुनौती है।

पढमो उद्देसो

प्रथम उद्देशक

१. कयरे धम्मे अक्खाए
माहणेण मईमया ? ।
अंजुं धम्मं जहातच्चं
जिणाणं तं सुणेह मे ।।

मतिमान् माहन द्वारा कौनसा धर्म आख्यात है ? तीर्थकरों के ऋजु और यथार्थ धर्म को मुझसे सुनो ।

२. माहणा खत्तिया वेस्सा
चंडाला अदु बोक्कसा ।
एसिया वेसिया सुद्दा
जे य आरंभणिस्सिया ।।

माहण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, वर्ण-संकर, एषिक/शिकारी, वैशिक, शूद्र तथा अन्य लोग भी आरम्भाश्रित हैं ।

३. परिग्गहे णिविट्ठाणं
वेरं तेसिं पवड्ढई ।
आरंभसंभिया कामा
ण ते दुक्खविमोयगा ।।

जो परिग्रह में मूर्च्छित है, उनका वैर बढ़ता है, उनके काम आरम्भ-संभृत हैं । वे दुःख विमोचक नहीं है ।

४. आघायकिच्चमाहेउं
णाइओ विसएसिणो ।
अण्णे हरंति तं वित्तं
कम्मी कम्मेहि किच्चती ।।

विषय-अभिलाषी ज्ञातिजन मरणो-परान्त किये जाने वाले अनुष्ठान के पश्चात् धन का हरण कर लेते हैं । कर्मी कर्म से कृत्य करता है ।

५. माया पिया ण्हुसा भाया
भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
णालं ते मम ताणाए
लुप्पंतस्स सकम्मुणा ।।

जब मैं स्वकर्मों से लिप्तमान हूँ तब माता-पिता, पुत्र-वधु, भाई, पत्नी और औरस पुत्र मेरी रक्षा करने में असमर्थ हैं

६. एयमट्ठं सपेहाए
परमट्ठाणुगामियं ।
णिम्ममो णिरहंकारो
चरे भिक्खू जिणाहियं ॥
(युग्मम)

परमार्थानुगामी भिक्षु इस अर्थ को समझकर निर्मम और निरहंकार होकर जिनोक्त धर्म का आचरण करे।

७. चिच्चा वित्तं च पुत्ते य
णाइओ य परिग्गहं ।
चिच्चाण अंतगं सोयं
णिरवेक्खो परिव्वए ॥

वित्त, पुत्र, ज्ञातिजन और परिग्रह का त्यागकर और अन्त में श्रोत को छोड़ कर भिक्षु निरपेक्ष विचरण करे।

८. पुढवी आऊ अगणी वाऊ
तण रुक्ख सबीयगा ।
अंडया पोय जराऊ
रस संसेय उब्भिया ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तृण, वृक्ष और सबीजक, अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेज और उद्भिज्ज [ये जीव] हैं।

९. एएहिं छहिं काएहिं
तं विज्जं ! परिजाणिया ।
मणसा कायवक्केणं
णारंभी ण परिग्गही ॥

हे विज्ञ ! षट्कायिक जीवों को जानो। मन, काय एवं वाक्य से आरम्भी एवं परिग्रही मत बनो।

१०. मुसावायं बहिद्धं च
उग्गहं च अजाइयं ।
सत्थादाणाइं लोगंसि
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

हे विज्ञ ! मृषावाद, बहिद्ध (बाह्य वस्तु) एवं अयाचित अवग्रह को लोक में शस्त्रादान/शस्त्र-प्रयोग समझो।

११. पलिउंचणं च भयणं च
थंडिलुस्सयणाणि य ।
धुत्तादाणाणि लोगंसि
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

हे विज्ञ ! माया, लोभ, क्रोध और मान को लोक में धूर्तादान/धूर्त-क्रिया समझो।

१२. धोवणं रयणं चेव
वत्थिकम्मं विरेयणं ।
वमणं च सिरोवेधे
तं विज्जं ! परिजाणिया ।।

हे विज्ञ ! प्रक्षालन, रंगना, वमन, विरेचन, वस्तिकर्म, शिरोवेध को समझो/त्यागो ।

१३. गंधमल्लं सिणाणं च
दंतपक्खालणं तहा ।
परिग्गहित्थिकम्मं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ।।

हे विज्ञ ! गंध, माल्य, स्नान, दन्त-प्रक्षालन, परिग्रह और स्त्री कर्म को समझो/त्यागो ।

१४. उद्देसियं कीयगडं
पामिच्चं चेव आहडं ।
पूयं अणेसणिज्जं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ।।

हे विज्ञ ! ओद्देशिक, क्रीतकृत, प्रामित्य (उधार लिये गए) आहृत पूतिनिर्मित और अनेषणीय आहार को समझो/त्यागो ।

१५. आसूणिमक्खिरागं च
गिद्धुवघायकम्मगं ।
उच्छोलणं च कक्कं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ।।

हे विज्ञ ! आशूनि (शक्ति-वर्धक) अक्षिराग, रसासक्ति, उत्क्षालन और कल्क (उबटन) को समझो/त्यागो ।

१६. संपसारी कयकिरिए
पसिणायतणाणि य ।
सागारियं च पिंडं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ।।

हे विज्ञ ! संप्रसारी (असंयत भाषी), कृत्क्रिया के प्रशंसक, ज्योतिष्क और सागरिक पिण्ड को समझो/त्यागो ।

१७. अट्ठापयं ण सिक्खेज्जा
वेधादीयं च णो वए ।
हत्थकम्मं विवायं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ।।

हे विज्ञ ! अष्टापद (द्यूत आदि) मत सीखो, वेध आदि मत बनाओ । हस्त-कर्म और विवाद को समझो/त्यागो ।

१८. उवाणहाओ छत्तं च
णालियं बालवीयणं ।
परकिरियं अण्णमण्णं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

हे विज्ञ! उपानह (जूता) छत्र, नालिका बालवीजन (पंखा) परक्रिया एवं अन्योन्य क्रिया को समझो/त्यागो।

१९. उच्चारं पासवणं
हरिएसु ण करे मुणी ।
वियडेण वावि साहट्टु
णायमेज्ज कयाइ वि ॥

मुनि हरित स्थान पर उच्चार-प्रस्रवण (मलमूत्र-विसर्जन) न करे तथा वनस्पति को इधर-उधर कर अचित्त जल से भी कदापि आचमन न करे।

२०. परमत्ते अण्णपाणं
ण भुंजेज्ज कयाइ वि ।
परवत्थं अचेलो वि
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

विज्ञ गृहस्थ के पात्र में कभी भी आहार-पानी का सेवन न करे। अचेल [मुनि] परवस्त्र को भी समझे/त्यागे।

२१. आसंदी पलियंके य
णिसिज्जं च गिहंतरे ।
संपुच्छणं सरणं वा
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

हे विज्ञ ! आसन्दी (कुर्सी), पलंग, गृहान्तर की शय्या, संप्रच्छन या स्मरण को समझो/त्यागो।

२२. जसं कित्ती सिलोगं च
जा य वंदणपूयणा ।
सव्वलोगंसि जे कामा
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

यश, कीर्ति, श्लोक [प्रशंसा], वंदन-पूजन और सम्पूर्ण लोक के जितने भी काम हैं, उन्हें समझो/त्यागो।

२३. जेणेहं णिव्वहे भिक्खू
अण्णपाणं तहाविहं ।
अणुप्पयाणमण्णेसिं
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

हे प्रज्ञ ! यदि भिक्षु (गृहस्थ से) कार्य निष्पन्न कराए तो अनुप्रदाता के अन्न-पान को समझे।

२४. एवं उदावु णिग्गंथे
महावीरे महामुणी ।
अणंतणाणदंसी से
धम्मं देसितवं सुतं ॥

अनन्तज्ञानदर्शी, निर्ग्रन्थ महामुनि महावीर ने ऐसा श्रुत धर्म का उपदेश दिया ।

२५. भासमाणो ण भासेज्जा
णो य वम्फेज्ज मम्मयं ।
माइट्ठाणं विवज्जेज्जा
अणुवीइ वियागरे ॥

मुनि बोलता हुआ भी मौनी रहे, मर्मवेधी वचन न बोले, मायावी स्थान का वर्जन करे, अनुवीक्षण कर बोले ।

२६. संतिमा तहिया भासा
जं वइत्ताणुतप्पई ।
जं छण्णं तं ण वत्तव्वं
एसा आणा णियंठिया ॥

ये तथ्य भाषाएँ हैं जिन्हें बोलकर मनुष्य अनुतप्त होता है । जो क्षण बोलने योग्य नहीं है उस क्षण में नहीं बोलना चाहिये ।

२७. होलावायं सहीवायं
गोयवायं च णो वए ।
तुमं तुमं ति अमणुण्णं
सव्वसो तं ण वत्तए ॥

मुनि होलावाद सखिवाद एवं गोत्रवाद न बोले । तू तू ऐसा अमनोज्ञ शब्द सर्वथा न कहे ।

२८. अकुसीले सदा भिक्खू
णो य संसग्गियं भए ।
सुहरूवा तत्थुवसग्गा
पडिबुज्झेज्ज के विऊ ॥

साधु सदैव अकुशील [सुशील] रहे और संसर्ग न करे । वह विज्ञ अनुकूल उपसर्गों को भी समझे ।

२९. णण्णत्थ अंतराएणं
परगेहे ण णिसीयए ।
गाम-कुमारियं किड्डं
णाइवेलं हसे मुणी ॥

मुनि किसी अन्तराय/कारण के बिना गृहस्थ के घर में न बैठे । कामक्रीड़ा एवं कुमारक्रीड़ा न करे एवं अमर्यादित न हँसे ।

३०. अणुस्सुओ उरालेसु जयमाणो परिव्वए । चरियाए अप्पमत्तो पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥	मनोहर पदार्थों के प्रति अनुत्सुक रहे यतनापूर्वक परिव्रजन करे। चर्या में अप्रमत्त रहे [उपसर्गों] से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे।
३१. हम्ममाणो ण कुप्पेज्जा वुच्चमाणो ण संजले । सुमणो अहियासेज्जा ण य कोलाहलं करे ॥	हन्यमान अवस्था में भी क्रोध न करे, कुछ कहे जाने पर उत्तेजित न हो, प्रसन्न मन से सहन करे, कोलाहल न करे।
३२. लद्धे काम ण पत्थेज्जा विवेगे एव माहिए । आयरियाइं सिक्खेज्जा बुद्धाणं अंतिए सया ॥	प्राप्त काम भोगों की अभिलाषा न करे, यह विवेक कहा गया है। बुद्धों के पास सदा आचरण की शिक्षा प्राप्त करे।
३३. सुस्सूसमाणो उवासेज्जा सुप्पण्णं सुतवस्सियं । वीरा जे अत्तपण्णेसी धितिमंता जिइंदिया ॥	जो वीर, आत्मप्रज्ञा के अन्वेषी, धृतिमान् और जितेन्द्रिय हैं, ऐसे सुप्रज्ञ और सुतपस्वी आचार्य की सुश्रुषा करे।
३४. गिहे दीवमपासंता पुरिसादाणिया णरा । ते वीरा बंधणुम्मुक्का णावकंखंति जीवियं ॥	गृह के दीप (प्रकाश) न देखने वाले मनुष्य भी (प्रव्रज्या में) पुरुषादानीय हो जाते हैं। वे बन्धन-मुक्त वीर जीने की आकांक्षा नहीं करते हैं।
३५. अगिद्धे सद्दफासेसु आरंभेसु अणिस्सिए । सव्वं तं समयातीतं जमेयं लवियं बहु ॥	[मुनि] शब्द और स्पर्श से अनासक्त तथा आरम्भ में अनिश्रित रहे। जो पूर्व में कहा गया, वह सर्व समयातीत है।

३६. अइमाणं च मायं च तं परिण्णाय पंडिए । गारवाणि य सव्वाणि णिव्वाणं संधए मुणि ॥ —त्ति बेमि	पंडित मुनि अतिमान, माया और सभी गौरवों को जानकर निर्वाण की खोज करे । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

दसमं अज्झयणं

समाही

दशम अध्ययन

समाधि

आमुख

प्रस्तुत अध्याय 'समाधि' है। समाधि साधना की एक ऊँची अलमस्त दशा है। समाधि का सीधा-सादा अर्थ होता है समाधान। जिस समाधान में कोई अन्तर् विरोध न हो, जो ठेठ तुष्टि और तृप्ति से साक्षात्कार करवाए वही समाधि है। इसलिए समाधि समाधानों का समाधान है, उत्तरों का उत्तर, अनुत्तर है।

समाधि कई किस्म की हुआ करती है। श्रुत के अध्ययन/मनन में तन्मयता एवं अतिशय रस की उद्रेकता, ज्ञान-समाधि है। तत्त्व-दर्शन में वुद्धि का निर्भ्रम/निष्कम्प होना दर्शन-समाधि है। विषय-सुखों से मुँह मोड़कर निर्ष्किचन होने के बाद भी परितुष्ट रहना चारित्र-समाधि है और साधनागत जीवन में आने वाली आपदाओं से उद्विग्न न होना तप: समाधि है। ये चारों समाधियाँ भाव-समाधि के अलग-अलग कक्ष हैं। इनका कार्य चित्त को चैतन्य की राह पर लाना है।

समाधि चित्त की प्रसन्नता का ही उपनाम है। चित्त विचारों का पुलिंदा है। मनुष्य के भीतर विचार-संकर की गतिविधियाँ आठों याम रहती हैं। ध्यान का काम चित्त को संकर से छुटकारा दिलाना है। समाधि ध्यान का आखरी पड़ाव है। चित्त की एकाग्रता के लिए जीवन में आवश्यकताओं की परिमितता, समदर्शिता तथा सर्वत्र माँगल्य देखने की शुभ दृष्टि पूर्व सीढ़ियाँ हैं। जहां द्वेष-भाव हो वहाँ प्रेम-भाव वढ़ाया जाए। सुखी से मैत्री हो तो दु:खी के प्रति करूणा हो। यों करते-करते ही तो आखिर चित्त धुलेगा/मंजेगा। मनुष्य का शून्य-चित्त हो जाना व्यक्तिगत चेतन में परमात्म चेतन को अवतरित करने की सही पृष्ठ भूमिका है। प्रमाद की जंजीरों को तोड़ने के बाद ही ध्यान-समाधि की ओर कदम गतिमान हो सकते हैं। अप्रमाद आत्म-जागरण की पहल है। अप्रमाद का अर्थ है वर्तमान क्षण को अपना सर्वस्व समझकर विनाश की कब्र में दफनने से पूर्व उसका पूरा-पूरा उपयोग कर लेना। जब तक साधक वर्तमान का अनुपश्यी न होगा तब तक भूत-भविष्य चित्त पर आक्रमण करते रहेंगे और उन स्थितियों में किया गया ध्यान एकाग्रता नहीं अपितु चित्त के चांचल्य को वढ़ावा है। चित्त का प्रक्षुब्ध न होना ही ध्यान है और उसका प्रसन्नता से भरपूर हो जाना समाधि है।

पढमो उद्देसो

प्रथम उद्देशक

१. आघं मइमं अणुवीइ धम्मं
अंजुं समाहिं तमिणं सुणेह ।
अपडिण्णे भिक्खू समाहिपत्ते
अणियाणभूते सुपरिव्वएज्जा ।।

मतिमान् ने अनुचिन्तन कर जो ऋजु समाधि-धर्म प्रतिपादित किया है, उसे सुनो । समाधि-प्राप्त अप्रतिज्ञ और अनिदानभूत भिक्षु सम्यक् परिव्रजन करे ।

२. उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहिं पाएहिं य संजमित्ता
अदिण्णमण्णेसु य णो गहेज्जा ।।

ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग् दिशाओं में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं उन्हें हस्त और पाद से संयमित कर अन्य द्वारा अदत्त पदार्थ ग्रहण न करे ।

३. सुयक्खायधम्मे वितिगिच्छतिण्णे
लाढे चरे आयतुले पयासु ।
आयं ण कुज्जा इह जीवियट्ठी
चयं ण कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू ।।

जो स्वाख्यातधर्मी एवं विचिकित्सातीर्ण है वह प्राणियों पर आत्मवत् व्यवहार कर लाढ़ देश में विचरण करे । जीवन के लिए आय न करे और सुतपस्वी भिक्षु संचय न करे ।

४. सव्विंदियाभिणिव्वुडे पयासु
चरे मुणी सव्वओ विप्पमुक्के ।
पासाहि पाणे य पुढो वि सत्ते
दुक्खेण अट्टे परिपच्चमाणे ।।

मुनि प्राणियों पर सर्व-इन्द्रियों से संयत तथा सर्वथा विप्रमुक्त होकर विचरण करे। पृथक्-पृथक् रूप से विषण्ण, दुःख से आर्त और परितप्त प्राणियों को देखे ।

५. एतेसु बाले य पकुव्वमाणे
आवट्टती कम्मसु पावएसु ।।
अतिवायतो कीरति पावकम्मं
णिउंजमाणे उ करेइ कम्मं ।।

अज्ञानी जीवों को दुःखी करता हुआ पाप कर्मों में आवर्तन करता है । वह स्वयं अतिपातकर पापकर्म करता है व नियोजित होकर भी कर्म करता है ।

६. आदीणवित्ती वि करेति पावं मंता हु एगंतसमाहिमाहु । बुद्धे समाहीय रए विवेगे पाणाइवाया विरते ठियप्पा ॥	आदीनवृत्ति वाला भी पाप करता है, यह मानकर एकान्त समाधि का प्ररुपण किया । समाधि और विवेकरत पुरुष बुद्ध, प्राणातिपात-विरत एवं स्थितात्मा है ।
७. सव्वं जगं तू समयाणुपेही पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा । उट्ठाय दीणो तु पुणो विसण्णो संपूयणं चेव सिलोयकामी ॥	सर्व जगत् का समतानुप्रेक्षी किसी का भी प्रिय-अप्रिय न करे । दीन उठकर पुनः विपण्ण होता है । प्रशंसाकामी पूजा चाहता है ।
८. आहाकडं चेव णिकाममीणे णियामचारी य विसण्णमेसी । इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे ॥	जो निष्प्रयोजन आधाकर्म/औद्देसिक आहार की इच्छा से चर्या करता है, वह विपण्णता की एपणा करता है । स्त्री-आसक्त अज्ञानी परिग्रह का ही प्रवर्तन करता है ।
९. वेराणुगिद्धे णिचयं करेति इतो चुते से इहमट्ठदुग्गं । तम्हा उ मेधावि समिक्ख धम्मं चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ॥	वैरानुगृद्ध पुरुप कर्म-निचय/संचय करता है । यहाँ से च्युत होकर वह दुःख रूप दुर्ग को प्राप्त करता है । अतः मेधावी धर्म की समीक्षा कर सर्वतः विप्रमुक्त हो विचरण करे ।
१०. आयं ण कुज्जा इह जीवितट्ठी असज्जमाणो य परिव्वएज्जा । णिसम्मभासी य विणीयगिद्धी हिंसण्णितं वा ण कहं करेज्जा ॥	लोक में जीवितार्थी आय न करे, अनासक्त होकर परिव्रजन करे । निशम्य-भाषी और विनीतगृद्ध हिंसान्वित कथा न करे ।
११. आहाकडं वा ण णिकामएज्जा णिकामयंते य ण संथवेज्जा ॥ धुणे उरालं अणवेक्खमाणे चिच्चाण सोयं अणुवेक्खमाणो॥	आधाकर्म (नैमित्तिक) की कामना न करे और न कामना करने वाले का संस्तव करे । अनुप्रेक्षक अनुप्रेक्षापूर्वक स्थूल शरीर के स्रोत को छोड़कर उसे कृश करे ।

१२. एगत्तमेवं अभिपत्थएज्जा
एवं पमोक्खे ण मुसं ति पास ।
एसप्पमोक्खे अमुसेऽवरेवि
अकोहणे सच्चरए तवस्सी ॥

एकत्व की अभ्यर्थना करे, यही मोक्ष है, यह मिथ्या नहीं है। यह मोक्ष ही सत्य एवं श्रेष्ठ है, इसे देखो। जो अक्रोधी, सत्यरत एवं तपस्वी है [वह मोक्ष प्राप्त करता है]।

१३. इत्थीसु या आरयमेहुणे उ
परिग्गहं चेव अकुव्वमाणे ।
उच्चावएसु विसुएसु ताई
निस्संसयं भिक्खु समाहिपत्ते ॥

स्त्री-मैथुन से विरत, अपरिग्रही, ऊँच-नीच विषयों में मध्यस्थ भिक्षु समाधि प्राप्त है।

१४. अरइ रइ च अभिभूय भिक्खू
तणाइफासं तह सीयफासं ।
उण्हं च दंसं चऽहियासएज्जा
सुब्भिं च दुब्भिं च तितिक्खएज्जा॥

भिक्षु अरति और रति को अभिभूत कर तृणादि स्पर्श तथा शीत स्पर्श, उष्ण तथा दंश को सहन करे। सुरभि एवं दुरभि में तितिक्षा रखे।

१५. गुत्ते वईए य समाहिपत्ते
लेसं समाहट्टु परिव्वएज्जा ।
गिहं ण छाए ण वि छायएज्जा
सम्मिस्सिभावं पजहे पयासु ॥

गुप्त-वाची एवं समाधि-प्राप्त [भिक्षु] विशुद्ध लेश्याओं को ग्रहण कर परिव्रजन करे, स्वयं गृहच्छादन न करे और दूसरों से न करवाए। प्रजा के साथ एक स्थान पर न रहे।

१६. जे केइ लोगम्मि उ अकिरिआया
अण्णेण पुट्ठा धुयमादिसंति ।
आरंभसत्ता गढिया य लोए
धम्मं ण जाणंति विमोक्खहेउं ॥

जगत् में जितने भी अक्रियात्मवादी हैं, वे अन्य के पूछने पर धुत का प्रतिपादन करते हैं, पर वे आरम्भ में आसक्त और लोक में ग्रथित होकर मोक्ष के हेतु धर्म को नहीं जानते हैं।

१७. पुढो य छंदा इह माणवाणं
किरिया-अकिरियाण व पुढोवादं
जायस्स बालस्स पकुव्व देहं
पवड्ढती वेरमसंजयस्स ॥

उन मनुष्यों के विविध छंद (अभिप्राय) होते हैं। क्रिया और अक्रिया पृथग्वाद है। जैसे नवजात शिशु का शरीर बढ़ता है वैसे ही असंयत का वैर बढ़ता है।

१८. आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे
ममाइ से साहसकारि मंदे ।
अहो य राओ परितप्पमाणे
अट्टेसु मुढे अजरामरे व्व ।।

आयुक्षय से अनभिज्ञ, ममत्वशील, साहसकारी मंद, आर्त्त और मूढ़ स्वयं को अजर-अमर मानकर रात-दिन संतप्त होता है ।

१९. जहाहि वित्तं पसवो य सव्वे
जे बंधवा जे य पिया य मित्ता ।
लालप्पई सेऽवि य एइ मोहं
अण्णे जणा तं सि हरंति वित्तं ।।

वित्त, पशु, बान्धव और अन्य जो भी प्रियमित्र हैं उन्हें छोड़कर वह विलाप करता है और मोहित होता है, अन्य लोग उसके धन का हरण कर लेते हैं।

२०. सीहं जहा खुड्डमिगा चरंता
दूरे चरंती परिसंकमाणा ।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं
दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ।।

जैसे विचरणशील क्षुद्र मृग सिंह से परिशंकित हो दूर विचरण करते हैं इसी प्रकार मेधावी धर्म की समीक्षा कर दूर से ही पाप का परिवर्जन करे।

२१. संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं
पावाओ अप्पाण णिवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाणि मत्ता
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ।।

संबुध्यमान्, मतिमान, नर हिंसा प्रसूत दुःख को वैरानुबन्धी एवं महाभयकारी मानकर पाप से आत्म-निवर्तन करे ।

२२. मुसं ण बूया मुणि अत्तगामी
णिव्वाणमेयं कसिणं समाहिं ।
सयं ण कुज्जा ण वि कारवेज्जा
करंतमण्णं पि य णाणुजाणे ।।

आत्मगामी मुनि असत्य न बोले । मृषावाद न स्वयं करे न अन्य से करवाए और न करने वाले का समर्थन करे । यही निर्वाण और सम्पूर्ण समाधि है ।

२३. सुद्धे सिया जाए ण दूसएज्जा
अमुच्छिए ण य अज्झोववण्णे ।
धितिमं विमुक्के ण य पूयणट्ठी
ण सिलोयकामी य परिव्वएज्जा ।।

अमूर्च्छित और अनध्युपपन्न साधक प्राप्त आहार को दूषित न करे । धृतिमान्, विमुक्त भिक्षु पूजनार्थी एवं प्रशंसा कामी न होकर परिव्रजन करे।

२४. णिक्खम्म गेहाओ णिरावकंखी
काय विओसज्ज णिदाणछिण्णे।
णो जीवितं णो मरणाभिकंखी
चरेज्ज भिक्खू वलया विमुक्के॥

—त्ति बेमि

गृह से अभिनिष्क्रमण कर निरवकांक्षी बने शरीर का व्युत्सर्ग कर छिन्ननिदान बने, जीवन मरण का अनभिकांक्षी एवं वलय/परावर्तन से विमुक्त भिक्षु संयम का आचरण करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

एगारसमं अज्झयणं

मग्गे

एकादश अध्ययन

मार्ग

आमुख

प्रस्तुत अध्याय 'मार्ग' है। मार्ग निर्वाण एवं शन्ति का प्रशस्त प्रतिष्ठान है। निष्ठा मार्ग है तो निर्वाण मार्ग-फल। मार्ग गन्तव्य तक पहुँचने का माध्यम है और गन्तव्य मार्ग का आखिरी परिणाम है। प्रस्तुत अध्याय के सूत्र निर्वाण-मार्ग/मोक्ष-मार्ग के मील के पत्थर है। सूत्रकार के ये रचनाधर्मी शब्द मोक्ष-मार्ग की बारीकियों को बिना किसी दिक्कत के समझाने में सक्षम हैं। एषणा और भाषा में विवेक रखना इस मार्ग पर अपना कदम बढ़ाना है। अहिंसा मूलक सत्य और स्वस्थ वातावरण में जीवन को ले जाने वाली व्यवस्था का नाम ही मोक्ष-मार्ग है।

मनुष्य संसार-समुद्र की अविरोध यात्रा कर रहा है। नौका तो अनादि-काल से बहती.चलती आ रही है। पर उसे न तो कहीं कोई किनारा हाथ लगा और न कोई लंगर डालने के लिए द्वीप मिला है। नाविक नौका खेते-खेते थककर चूर हो चुका है। उसके लिए द्वीप ही एक मात्र शरण हो सकता है। सूत्रकार की दृष्टि में संसार के प्रवाह में डूबते-उबरते प्राणियों के लिए धर्म ही एकमात्र गति है, शरण है, द्वीप है। धर्म वास्तव में मोक्ष-मार्ग का शब्दान्तर है। शरीर नौका है, जीव नाविक है, महर्षि वे हैं जो प्रज्ञा की पतवारों के सहारे पार पा लेते हैं।

साधक सत्य का शोधार्थी है। उसे तो असत्य की परछाई से भी दूर रहना चाहिये। असत्य के अन्धकार में सत्य के प्रकाश की खोज की बात उठानी मात्र स्वयं के अज्ञान का प्रदर्शन है। प्राणी मात्र में आत्मा को देखने/झांखने वाला ही अहिंसा की हृदय उपासना कर सकता है। आत्म-साम्य के धरातल में अंकुरित हुई अहिंसा सत्य की ही अभिव्यक्ति है। आत्म-गोपन, इन्द्रिय और मन का उपशमन, निराश्रव भाव का उन्नयन निर्माण मूलक समाधि में प्रवेश करने का द्वार है। मार्ग की पावनता और स्वच्छता बनाए रखते हुए अपने आपको निरन्तर गतिशील रखना स्वयं की मुक्ति का असाधरण अभियान है।

पढमो उद्देसो | प्रथम उद्देशक

१. कयरे मग्गे अक्खाए
माहणेणं मईमता ? ।
जं मग्गं उज्जु पावित्ता
ओहं तरति दुत्तरं ॥

मतिमान् माहन द्वारा कौनसा मार्ग प्रवेदित है ? जिस ऋजु मार्ग को पाकर दुस्तर प्रवाह को पार किया जा सकता है ।

२. तं मग्गं अणुत्तरं सुद्धं
सव्वदुक्खविमोक्खणं ।
जाणासि णं जहा भिक्खू
तं णे ब्रूहि महामुणी ! ॥

हे भिक्षु ! शुद्ध, सर्व दुःख विमोक्षी एवं अनुत्तर उस मार्ग को जैसे आप जानते हैं, हे महामुने । वैसे ही कहें ।

३. जइ णो केइ पुच्छेज्जा
देवा अदुव माणुसा ।
तेसिं तु कयरं मग्गं
आइक्खेज्ज ? कहाहि णो ॥

यदि कोई देव अथवा मनुष्य हमसे पूछे तो उन्हें कौनसा मार्ग वतलाएँ, हमें बताइये ।

४. जइ वो केइ पुच्छेज्जा
देवा अदुव माणुसा ।
तेसिमं पडिसाहेज्जा
मग्गसारं सुणेह मे ॥

यदि कुछ देव या मनुष्य तुमसे पूछें, उन्हें जो संक्षिप्त मार्ग कहा जाए वह मुझसे सुनो ।

५, अणुपुव्वेण महाघोरं
कासवेण पवेइयं ।
जमादाय इओ पुव्वं
समुद्दं ववहारिणो ॥

काश्यप द्वारा प्रवेदित मार्ग वड़ा कठिन है, जिसे प्राप्त कर अनेक लोग समुद्र व्यापारी [की तरह] –

६.	अतरिंसु तरंतेगे तरिस्संति अणागया । तं सोच्चा पडिवक्खामि जतंवो ! तं सुणेह मे ॥	[संसार-सागर को] तर गये हैं, तर रह हैं और भविष्य में तरेंगे। उसे सुनकर जो कहूँगा उसे हे प्राणियों ! मुझसे सुनो।
७.	पुढवीजीवा पुढो सत्ता आउजीवा तहाऽगणी । वाउजीवा पुढो सत्ता तण रुक्खा सबीयगा ॥	पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, बीज, तृण और वृक्ष – ये सभी जीव पृथक्-पृथक् सत्त्व (अस्तित्व) वाले है।
८.	अहावरे तसा पाणा एवं छक्काय आहिया । इत्ताव एव जीवकाए णावरे विज्जती कए ॥	इनके अतिरिक्त त्रस प्राणी होते हैं। इस प्रकार षट्काय बनाए गये है। जीव-काय इतने ही हैं। इनके अतिरिक्त कोई जीवकाय नहीं है।
९.	सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं मइमं पडिलेहिया । सव्वे अकंतदुक्खा य अतो सव्वे अहिंसया ॥	मतिमान् सभी युक्तियों से जीवों का प्रतिलेखन करे। सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है अतः सभी अहिंस्य हैं।
१०.	एयं खु णाणिणो सारं जं ण हिंसति कंचणं । अहिंसा समयं चेव एतावंतं विजाणिया ॥	यही ज्ञानियों का सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता है। समता अहिंसा है इतना ही उसे जानना चाहिये।
११.	उड्ढं अहे य तिरियं जे केइ तसथावरा । सव्वत्थ विरतिं कुज्जा संति णिव्वाणमाहियं ॥	ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् लोक में जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं, सर्वत्र हिंसा से विरत रहे [क्योंकि] शान्ति को निर्वाण कहा गया है।

१२. पभू दोसे णिराकिच्चा ण विरुज्झेज्ज केणइ । मणसा वयसा चेव कायसा चेव अंतसो ।।	प्रभु/ज्ञान मनीषी दोषों का निराकरण कर किसी के साथ मन, वचन, काया से आजीवन वैर-विरोध न करे।
१३. संवुडे से महापण्णे धीरे दत्तेसणं चरे । एसणासमिए णिच्चं वज्जयंते अणेसणं ।।	संवृत महाप्राज्ञ और धीर दत्तैषणा की चर्या करे। अनेषणीय का त्याग करे एवं नित्य एषणा-समिति का पालन करे।
१४. भूयाइं च समारंभ तमुद्दिस्साय जं कडं । तारिसं तु ण गिण्हेज्जा अण्णपाणं सुसंजए ।।	जीवों का समारम्भ कर साधु के उद्देश्य से निर्मित अन्नपान सुसंयती ग्रहण न करे।
१५. पूइकम्मं ण सेविज्जा एस धम्मे वुसीमओ । जं किंचि अभिसंकेज्जा सव्वसो तं ण कप्पए ।।	पूतिकर्म का सेवन न करे यही वृषीमत धर्म है। जहाँ किञ्चित् भी आशंका हो वह सर्वथा अकल्पनीय है।
१६. हणंतं णाणुजाणेज्जा आयगुत्ते जिइंदिए । ठाणाइं संति सड्ढीण गामेसु णगरेसु वा ।।	आत्मगुप्त, जितेन्द्रिय हिंसा/हिंसक का अनुमोदन न करे। ग्राम या नगरों में श्रद्धालुओं के स्थान होते हैं।
१७. अत्थि वा णत्थि वा पुण्णं ? अत्थि पुण्णं ति णो वए । अहवा णत्थि पुण्णं ति एवमेयं महब्भयं ।।	कोई पूछे, अमुक कार्य में पुण्य है या नहीं। तो पुण्य है — ऐसा भी न कहे अथवा पुण्य नहीं है ऐसा भी न कहे। यह कहना महाभयकारक है।

१८. दाणट्ठयाय जे पाणा
हम्मंति तसथावरा ।
तेसिं सारक्खणट्ठाए
अत्थि तम्हा ति णो वए ॥

दानार्थ जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते हैं उनके संरक्षणार्थ पुण्य है — यह भी न कहे ।

१९. जेसिं तं उवकप्पेंति
अण्णं पाणं तहाविहं ।
तेसिं लाभंतरायं ति
तम्हा णत्थि त्ति णो वए ॥

जिनको देने के लिए पूर्वोक्त अन्नपान बनाया जाता है उसमें लाभान्तराय है अतः पुण्य नहीं है – यह न कहे ।

२०. जे य दाणं पसंसंति
वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे य णं पडिसेहंति
वित्तिच्छेदं करेंति ते ॥

जो इस दान की प्रशंसा करते हैं, वे प्राणिवध की इच्छा करते हैं । जो दान का प्रतिषेध करते हैं, वे उनकी वृत्ति का छेदन करते हैं ।

२१. दुहओ वि जे ण भासंति
अत्थि वा णत्थि वा पुणो ।
आयं रयस्स हेच्चा णं
णिव्वाणं पावुणंति ते ॥

दान में पुण्य है या नहीं है – जो ये दोनों ही नहीं कहते हैं वे कर्माश्रव का निरोध कर निर्वाण प्राप्त करते हैं ।

२२. णिव्वाण-परमा बुद्धा
णक्खत्ताण व चंदमा ।
तम्हा सया जए दंते
णिव्वाणं संधए मुणी ॥

जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा श्रेष्ठ है वैसे ही बुद्ध/तीर्थंकर का निर्वाण श्रेष्ठ है । अतः सदा दान्त एवं यत्नशील मुनि निर्वाण का संधान करे ।

२३. बुज्झमाणाण पाणाणं
किच्चंताणं सकम्मणा ।
आघाति साहुयं दीवं
पतिट्ठेसा पवुच्चई ॥

[संसार-प्रवाह में] प्रवाहित, स्वकर्मों से छिन्न प्राणियों के लिए प्रभु ने साधुक/कल्याणकारी द्वीप का प्रतिपादन किया हैं । इसे 'प्रतिष्ठा' कहा जाता है ।

२४. आयगुत्ते सया दंते
छिण्णसोए णिरासवे ।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति
पडिपुण्णमणेलिसं ॥

जो आत्मगुप्त, दान्त, छिन्न स्रोत एवं निराश्रव है, वह शुद्ध प्रतिपूर्ण अनुपम धर्म का आख्यान करता है।

२५. तमेव अविजाणंता
अबुद्धा बुद्धवादिणो ।
बुद्धा मो त्ति य मण्णंता
अंतए ते समाहिए ॥

उससे अनभिज्ञ अबुद्ध स्वयं को बुद्ध कहते हैं। हम बुद्ध हैं—ऐसा मानने वाले समाधि से दूर हैं।

२६. ते य बीयोदगं चेव
तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
भोच्चा झाणं झियायंति
अखेयण्णा असमाहिया ॥

वे बीज, सचित्त जल एवं उद्देश्य से निर्मित आहार ग्रहण कर ध्यान ध्याते हैं। वे अक्षेत्रज्ञ और असमाहित हैं।

२७. जहा ढंका य कंका य
कुलला मग्गुका सिही ।
मच्छेसणं झियायंति
झाणं ते कलुसाधमं ॥

जैसे ढंक, कंक, कुरर, मद्‌गु (जल मुर्गा) और शिखी मछली की एषणा का ध्यान करते हैं, वैसे ही वे कलुष और अधम ध्यान करते हैं।

२८. एवं तु समणा एगे
मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
विसएसणं झियायंति
कंका वा कलुसाधमा ॥

इसी तरह कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण विषय एषणा का कंक की तरह ध्यान करते हैं। अतः वे कलुष और अधम हैं।

२९. सुद्धं मग्गं विराहित्ता
इहमेगे उ दुम्मति ।
उम्मग्गगया दुक्खं
घायमेसंति तं तहा ॥

उन्मार्गगत कुछ दुर्बुद्धि शुद्ध मार्ग की विराधना कर दुःख तथा मरण की एषणा करते हैं।

३०. जहा आसाविणिं णावं जाइअंधो दुरूहिया । इच्छई पारमागंतुं अंतरा य विसीयति ॥	जैसे जन्मान्ध व्यक्ति आस्राविणी नाव पर आरूढ़ होकर नदी पार करने की इच्छा करता है, पर मझधार में ही विषाद प्राप्त करता है।
३१. एवं तु समणा एगे मिच्छद्दिट्ठी अणारिया । सोयं कसिणमावण्णा आगंतारो महब्भयं ॥	वैसे ही कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण सम्पूर्ण स्रोत संसार में पड़कर महाभय प्राप्त करते हैं।
३२. इमं च धम्ममादाय कासवेण पवेदितं । तरे सोयं महाघोरं अत्तत्ताए परिव्वए ॥	काश्यप द्वारा प्रवेदित धर्म को अङ्गीकार कर मुनि महाघोर स्रोत तर जाए। आत्मभाव से परिव्रजन करे।
३३. विरए गामधम्मेहिं जे केई जगई जगा । तेसिं अत्तुवमायाए थामं कुव्वं परिव्वए ॥	वह ग्राम्यधर्मों से विरत होकर जगत में जितने भी प्राणी हैं उन्हें आत्मतुल्य जानकर पराक्रम करता हुआ परिव्रजन करे।
३४. अइमाणं च मायं च तं परिण्णाय पंडिए । सव्वमेयं णिराकिच्चा णिव्वाणं संधए मुणी ॥	पण्डित मुनि अतिमान और माया को जानकर उनका निराकरण कर निर्वाण का संधान करे।
३५. संधए साहुधम्मं च पावधम्मं णिराकरे । उवधाणवीरिए भिक्खू कोहं माणं ण पत्थए ॥	उपधान वीर्य भिक्षु साधु-धर्म का संधान करे और पाप धर्म का निराकरण करे। क्रोध और मान की प्रार्थना न करे।

१६. जे य बुद्धा अतिक्कंता
जे य बुद्धा अणागया ।
संती तेसिं पइट्ठाणं
भूयाणं जगती जहा ॥

जो अतिक्रान्त बुद्ध और जो अनागत बुद्ध हैं, उनका स्थान शान्ति है जैसे भूतों/प्राणियों के लिए पृथ्वी।

१७. अह णं वतमावण्णं
फासा उच्चावया फुसे ।
ण तेसु विणिहण्णेज्जा
वाएण व महागिरी ॥

व्रत सम्पन्न मुनि ऊँचे-नीचे स्पर्श से स्पर्शित होता है। पर वह उनसे वैसे ही विचलित न हो, जैसे वायु से महापर्वत।

१८. संवुडे से महापण्णे
धीरे दत्तेसणं चरे ।
णिव्वुडे कालमाकंखे
एवं केवलिणो मतं ॥
—त्ति बेमि

संवृत, महाप्राज्ञ, धीर दत्त की एषणा करे। निर्वृत काल की आकांक्षा करे। यही केवली-मत है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

बारसमं अज्झयणं

समोसरणं

द्वादश अध्ययन

समवसरण

आमुख

प्रस्तुत अध्याय 'समवसरण' है। समवसरण वह ज्ञान पीठ है जिसमें दर्शन की संगोष्ठियाँ आयोजित होती है। यह अध्याय विभिन्न दर्शनों के मौलिक तत्त्वों पर ऊहापोह करने वाला एक परिपत्र है।

'समवसरण' तो संगोष्ठी समारोह है। पक्ष-प्रतिपक्ष सभी को कथित मान्यता का खण्डन-मण्डन करने का अधिकार है। हर पक्ष अपने आप में एक वाद है। जितने समझू मनुष्य उतने ही वाद। पर तूती उन्हीं की वजती है जो प्रखर/धूरंधर होते हैं। अवान्तरों को विसरा भी दें तो भी क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद आदि तो इस समवसरण/ज्ञानपीठ के चर्चित.मान्य चेहरे हैं। आत्म-कर्तृत्व, कर्म, पुनर्जन्म पर ठप्पा लगाने वाले क्रियावादी हैं। अक्रियावादी इनकी नास्तिकता के प्रति विश्वासी हैं। अज्ञानवादी ज्ञान को समस्या और माथापच्ची मानकर मात्र शील और तप से ही स्वर्ग और मोक्ष का सफल आरोहण मानते हैं। ज्ञानवादी जहां ज्ञान के वल पर जीवन की गहराईयों/ऊँचाईयों का वखान करते हैं वहीं विनयवादी विनय/आचार को जीवन साधना का सर्वेसर्वा मानते हैं। समवसरण इन चारों का मिलाप करने वाला एकमंच है।

चाहे वादी हो या प्रतिवादी दुःख से छुटकारा दिलाने के लिए हर कोई प्रयत्नशील है। दुःख के वीज मनुष्य स्वयं ही वोता है। स्वयंकृत् दुःखों से छूटने का मुक्ति-अभियान भी स्वयं मनुष्य को ही करना पड़ता है। ज्ञान और आचरण की प्रगाढ़ मैत्री ही दुःख मुक्ति में सहायक है। जन्म-मरण की परम्परा तो विशृङ्खलित हुए विना अटूट चली आ रही है। जीव दुःख के कांटों में सोने का ऐसा अभ्यासी वन चुका है कि उसकी आसक्ति के रहते उस पार रहने वाली सुख की वासन्ती/गुलावी जिन्दगी के वारे में वह कल्पना भी नहीं कर पाता। इसीलिए तो वह जनम-जनम तक संसार की सैर करता रहता है। उस ओर झांकने का कार्य तभी हो सकता है जव विषय, वासना अंगना से ऊपर उठने की कोशिश की जाए। जव तक व्यक्ति इनकी गुलामी से स्वतन्त्र होने के लिए क्रान्ति का अभियान न छेड़ेगा तव तक वह दूसरों से दमित और तर्जित होता रहेगा। स्वातन्त्र्य को अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानकर जुझारु की तरह संघर्ष करने वाला ही दुःख-मुक्ति अभियान का संचालन कर सकता है।

कर्म-क्षय तो अकर्म/दृष्टाभाव को संजीवित करने से होता है। मात्र सिद्धांतों की व्याख्या से व्यक्ति वाग्वीर तो हो सकता है किन्तु कर्म वीरत्व तो ज्ञात सत्य के आचरण में है। ज्योतिर्मय पुरुषों का संसर्ग करते हुए मध्यस्थ/समत्ववृत्ति से जीने वाला मनुष्य ही संसार के वलय से मुक्त हो सकता है।

पढमो उद्देसो

प्रथम उद्देशक

१. चत्तारि समोसरणाणिमाणि
पावादुया जाइं पुढो वयंति ।
किरियं अकिरियं विणयं ति तइयं
अण्णाणमाहंसु चउत्थमेव ॥

क्रिया, अक्रिया तीसरा विनय और चौथा अज्ञान—ये चार समवसरण हैं, जिसे प्रावादुक/प्रवक्ता पृथक्-पृथक् प्रकार से कहते हैं।

२. अण्णाणिया ता कुसला वि संता
असंथुया णो वितिगिच्छ तिण्णा।
अकोविया आहु अकोविएहिं
अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति ॥

अज्ञानवादी कुशल होते हुए भी प्रशंसनीय नहीं हैं। वे विचिकित्सा से तीर्ण नहीं है। वे अकोविद है, अतः अकोविदों में विना विमर्श किये मिथ्या भाषण करते हैं।

३. सच्चं असच्चं इय चिंतयंता
असाहु साहु त्ति उदाहरंता ।
जेमे जणा वेणइया अणेगे
पुट्ठा वि भावं विणइंसु णाम ॥

सत्य का असत्य चिन्तन करने वाले, असाधु को साधु कहने वाले अनेक विनयवादी हैं, जो पूछने पर विनय को प्रमाण बतलाते हैं।

४. अणोवसंखा इय ते उदाहु
अट्ठे स ओभासइ अम्ह एवं ।
लवावसंकी य अणागएहिं
णो किरियमाहंसु अकिरियवाई ॥

ऐसा वे [विनयवादी] अज्ञानवश कहते हैं कि हमें यही अर्थ अवभाषित होता है। अक्रियावादी भविष्य और क्रिया का कथन नहीं करते।

५. संमिस्सभावं चगिरा गिहीते
से मुम्मुई होइ अणाणुवाइ ।
इमं दुपक्खं इममेगपक्खं
आहंसु छलायतणं च कम्मं ॥

वह सम्मिश्रभावी अपनी वाणी से गृहीत है। जो अननुवादी है वह मुम्मुई/मौनव्रती होता है। वह कहता है यह द्विपक्ष है, यह एक पक्ष है। वह कर्म को षडायतन मानता है।

६. ते एवमक्खंति अबुज्झमाणा विरूवरूवाणि अकिरियवाई । जमाइइत्ता वहवे मणूसा भमंति संसारमणोवदग्गं ॥	वे अनभिज्ञ अक्रियवादी विविध रूपों का आख्यान करते हैं, जिसे स्वीकार कर अनेक मनुष्य अपार संसार में भ्रमण करते हैं ।
७. णाइच्चो उदेइ ण अत्यमेइ ण चंदिमा वड्ढति हायती वा । सलिला ण संदंति ण वंति वाया वंझो णियओ कसिणे हु लोए ॥	[पकुध कात्यायन के अनुसार] सूर्य न उदित होता है और न अस्त । चन्द्रमा न बढ़ता है और न घटता है । नदियाँ प्रवाहित नहीं है । हवा चलती नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण लोक अर्थ शून्य एवं नियत है ।
८. जहा हि अन्धे सह जोइणा वि रूवाणि णो पस्सइ हीणणेत्ते । संतं पि ते एवमकिरियवाई किरियं ण पस्संति निरुद्धपण्णा॥	जैसे नेत्रहीन अन्धा ज्योति/प्रकाश होने पर भी रूपों को नहीं देख पाता है वैसे ही निरुद्धप्रज्ञ अक्रियवादी क्रिया को भी नहीं देख पाते हैं ।
९. संवच्छरं सुविणं लक्खणं च णिमित्तदेहं च उप्पाइयं च । अट्ठंगमेयं वहवे अहित्ता लोगंसि जाणंति अणागताइं ॥	इस लोक में अनेक पुरुष सांवत्सरिक/अन्तरिक्ष, स्वप्निक, लाक्षणिक, नैमित्तिक, दैहिक, औत्पातिक आदि अष्टांग शास्त्रों का अध्ययनकर अनागत को जान लेते हैं ।
१०. केई णिमित्ता तहिया भवंति केसिचि ते विप्पडिएंति णाणं । ते विज्जभावं अणहिज्जमाणा आहंसु विज्जापरिमोक्खमेव ॥	किन्हीं को निमित्त यथातथ्य ज्ञात है । किन्हीं का ज्ञान तथ्य के विपरीत है । जो विद्याभाव से अनभिज्ञ हैं, वे विद्या से मुक्त होने का आदेश देते हैं ।
११. ते एवमक्खंति समेच्च लोगं तहा तहा समणा माहणा य । सय कडं णऽण्णकडं च दुक्खं आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं ॥	तीर्थंकर लोक की समीक्षाकर श्रमणों एवं माहणों को यथातथ्य बतलाते हैं। दुःख स्वयंकृत है अन्यकृत नहीं । प्रमोक्ष विद्या/ज्ञान और चरण/चारित्र से है ।

१२. ते चक्खु लोगंसिह णायगा उ
मग्गाणुसासंति हियं पयाणं ।
तहा तहा सासयमाहु लोए
जंसी पया माणव! संपगाढा ॥

इस संसार वे ही लोकनायक हैं जो चक्षु/दृष्टा है तथा जो प्रजा के लिए हितकर मार्ग का अनुशासन करते हैं। हे मानव ! जिसमें प्रजा आसक्त है यथार्थतः वही शाश्वत लोक कहा गया है।

१३. जे रक्खसावा जमलोइया वा
जे आसुरा गंधव्वा य काया ।
आगासगामी य पुढोसिया ते
पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥

जो राक्षस, यमलौकिक, असुर, गंधर्व-कायिक आकाशगामी एवं पृथ्वी-आश्रित प्राणी है। वे विपर्यास प्राप्त करते हैं।

१४. जमाहु ओहं सलिलं अपारगं
जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं ।
जंसी विसण्णा विसयंगणाहिं
दुहओ वि लोयं अणुसंचरंति ॥

जिसे अपारगसलिल-प्रवाह कहा गया है, उस गहन संसार को दुर्मोक्ष जानो। जिसमें विषय और अंगनाओं से परुष विषण्ण है और लोक में अनुसंचरण करते हैं।

१५. ण कम्मुणा कम्म खवेंति वाला
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा ।
मेधाविणो लोभमया वतीता
संतोसिणो णो पकरेंति पावं ॥

अज्ञानी कर्म से कर्म-क्षय नहीं कर सकते। धीर अकर्म से कर्म का क्षय करते हैं। मेधावी पुरुष लोभ और मद से अतीत हैं। सन्तोषी पाप नहीं करते हैं।

१६. तेतीयउप्पण्णमणागयाइं
लोगस्स जाणंति तहागयाइं ।
णेयारो अण्णेसि अणण्णणेया
बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति ॥

वे [सर्वज्ञ] लोक के अतीत, उत्पन्न/वर्तमान और अनागत के यथार्थ-ज्ञाता हैं। वे अनन्य संचालित/आत्मनियन्ता, बुद्ध एवं कृतान्त हैं अतः दूसरों के नेता हैं।

१७. ते णेव कुव्वंति ण कारवेंति
भूताहिसंकाए दुगुंछमाणा ।
सया जया विप्पणमंति धीरा
विण्णत्ति-वीरा य भवंति एगे ॥

हिंसा से उद्विग्न होने के कारण जीव जुगुप्सित होते हैं। न वे हिंसा करते हैं न करवाते हैं। वे संयत धीर सदैव संयम की ओर झुके रहते हैं। पर कुछ लोग मात्र वाग्वीर होते हैं।

१८. डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे
ते आयओ पासइ सव्वलोगे ।
उवेहती लोगमिणं महंतं
बुद्धेपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥

जो लोक में बाल-वृद्ध सभी प्राणियों को आत्मवत् देखता है, एवं इस महान् लोक की उपेक्षा करता है वह बुद्ध अप्रमत्त पुरुषों में परिव्रजन करे ।

१९. जे आयओ परओ वा वि णच्चा
अलमप्पणो होंति अलं परेसिं ।
तं जोइभूयं च सयावसेज्जा
जे पाउकुज्जा अणुवीइ धम्मं ॥

जो स्वतः या परतः जानकर स्वहित या परहित में समर्थ होता है, जो धर्म का अनुवेक्षण कर उसका प्रादुर्भाव करता है, उस ज्योतिर्भूत व्यक्ति की सन्निधि में सदा रहना चाहिये ।

२०. अत्ताण जो जाणइ जो य लोगं
गइं च जो जाणइ णागइं च ।
जो सासयं जाण असासयं च
जाइं मरणं च चयणोववायं ॥

जो आत्मा, लोक, आगति, अनागति, शाश्वत, अशाश्वत, जन्म-मरण, च्यवन और उपपात को जानता है ।

२१. अहो वि सत्ताण विउट्टणं च
जो आसवं जाणइ संवरं च ।
दुक्खं च जो जाणइ णिज्जरं च
सो भासिउमरिहइ किरियवादं ।

जो प्राणियों के अधो विवर्तन, आस्रव, संवर, दुःख और निर्जरा को जानता है, वही क्रिया-वाद का प्ररुपण कर सकता है ।

२२. सद्देसु रूवेसु असज्जमाणो
रसेसु गंधेसु अदुस्समाणे ।
णो जीवियं णो मरणाहिकंखे
आयाणगुत्ते वलया विमुक्के ॥
—त्ति बेमि ।

जो शब्दों, रूपों, रसों और गंधों में राग-द्वेष नहीं करता, जीवन और मरण की अभिकांक्षा नहीं करता, इन्द्रियों का संवर करता है वह इन्द्रियजयी परावर्तन से विमुक्त है ।
—ऐसा मैं कहता हूँ ।

तेरसमं अज्झयणं

आहत्तहीयं

त्रयोदश अध्ययन

यथातथ्य

आमुख

प्रस्तुत अध्याय 'यथातथ्य' है। यथार्थ के लिए संकल्प समर्पित रहना साधनात्मक जीवन के यथातथ्यों की ईमानदारी से की जाने वाली पहल है। साधक की सारी चेष्टाएँ होती ही यथार्थ के लिए है। उसकी 'दीक्षा' और उसका अभिनिष्क्रमण अपने आप में उस यथार्थ को ही अभिव्यक्ति है। यथार्थ का अनुमोदन कभी अन्धानुसरण नहीं हो सकता। साधनात्मक जीवन की मर्यादाएँ वास्तव में एक सम्यक् अनुशासन है। तथ्यों की गहराई में गोते खाने वाला ही तथागत का व्यक्तित्व प्राप्त करता है।

जीवन अपने आप में एक उलझी पहेली है। इसके रहस्यों के घूँघट को उघाड़ना ही तथ्य.सत्य का निरीक्षण है। जीवन कोई थमा हुआ जल का गड्ढा नहीं है। जीवन एक सरित प्रवाह है। उसे भूमा रूप देने के लिए मर्यादाओं के तट बांधने पड़ते हैं। दो तटों के बीच मध्यस्थ/समत्वमय होकर प्रवहणशील होना ही, कर्मयोग और भूमायोग का सही मायना है। मर्यादाएँ बन्धन नहीं वरन् अनुशासन है। आत्मानुशासन के लिए जीवन को मर्यादाओं के कायदों में रखना अपरिहार्य है।

साधक के सारे प्रयत्न आत्मप्रक्षालन के लिए हुआ करते हैं; अत: हरिकायी और कीचड़ का अंकुरण उसके दायरे में कैसे शोभा देगा। कीचड़ में पाँव घुसाकर फिर धोने से तो अच्छा यही है कि कीचड़ को पास में ही न फटकने दिया जाए। निर्दोप और निर्मल रहना साधक की जीवन्त आत्म-पवित्रता है। उसके द्वार पर तो सद्गुण और सद्व्यवहार की रश्मियों की दस्तक ही शोभाकर होती है।

साधक तो वास्तव में सिद्धि का पुजारी होता है। उसका सारा परमार्थ परमात्म-प्राप्ति के लिए होता है। साधक तव तक साध्य का आलिंगन नहीं कर पाता जव तक उसके पाँव अहंकार के खूँटे से वंधे रहते हैं। नाविक नौका को कितना ही क्यों न खेता रहे पर नाव उसे उस पार कैसे पहुँचा पाएगी यदि लंगर वंधा हुआ रहे तो। यदि गज वन्धन मुक्त भी हो जाय किन्तु मदोन्मत्तता उसके जीवन का अनुशासन नहीं अपितु पागलपन होगा। साधक के परिसर में अहंकार एक मद है, नशा है। उसे तो निर्मद/निर्मल/निर्मन रहना चाहिये। संसार को छोड़कर ज्ञाति के वाद जाने और कुल का मद करना गृहस्थ कर्म है संन्यस्त कर्म नहीं। मन को अहंमुक्त और वाणी तथा मुख मुद्रा को संयमित करना श्रमण-धर्म के अनिवार्य अङ्ग है। अध्यात्म की भेद विज्ञानी राह पर वढ़ते रहना तथ्य शोध और तत्त्व बोध के लिए अनिवार्य है।

पढमो उद्देसो

प्रथम उद्देशक

१. आहत्तहीयं तु पवेयइस्सं
णाणप्पगारं पुरिसस्स जातं ।
सओ य धम्मं असओ सीलं
संति असंति करिस्सामि पाउं ।।

नाना विध उत्पन्न पुरुष के लिए मैं यथार्थ का निरूपण करूँगा । मैं सत्-असत्, धर्म-शील, शांति और अशांति को प्रगट करूँगा ।

२. अहो य राओ य समुट्ठिएहिं
तहागएहिं पडिलब्भ धम्मं ।
समाहिमाघातमजोसयंता
सत्थारमेवं फरूसं वयंति ।।

दिन-रात समुत्थित-तथागतों/तीर्थंकरों से धर्म-प्राप्त कर आख्यात् समाधि का सेवन न करने वाले असाधु अपने शास्ता को कठोर शब्द कहते हैं ।

३. विसोहियं ते अणुकाहयंते
जे याऽऽतभावेण वियागरेज्जा ।
अट्ठाणिए होइ बहुगुणाणं
जे णाणसंकाए मुसं वदेज्जा ।।

जो विशोधिका (धर्म कथा) कहते हुए आत्मबुद्धि से विपरीत अर्थ प्ररुपित करता है । जो ज्ञान में शंकित होकर मिथ्या बोलता है । वह अनेक गुणों का अस्थानिक (अपात्र) है ।

४. जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति
आदाणमट्ठं खलु वंचयंति ।
असाहुणो ते इह साहुमाणी
मायण्णिएसंहिति अणंतघातं ।।

जो पूछने पर [आचार्य का] नाम छिपाते हैं वे आदानीय अर्थ का वंचन करते हैं । वे असाधु होते हुए भी स्वयं को साधु मानते हैं । वे मायावी अनन्तघात प्राप्त करते हैं ।

५. जे कोहणे होइ जगट्ठभासी
विओसियं जे य उदीरएज्जा ।
अंधे व से दंडपहं गहाय
अविओसिए धासइ पावकम्मी ।।

जो क्रोधी है, वह अशिष्टभाषी है, जो अनुपशान्त पापकर्मी उपशान्त को उदीरणा करता है वह दण्डपथ को ग्रहण कर फँस जाता है ।

६.	जे विग्गहिए अण्णायभासी ण से समे होइ अझंझपत्ते । ओवायकारी य हीरीमणे य एगंतदिट्ठी य अमाइरूवे ॥	जो कलहकारी और ज्ञातभाषी है वह कलहरहित, सममावी, अवपातकारी, लज्जालु, एकान्तदृष्टि और छद्म से मुक्त नहीं हैं ।
७.	जो पेसले सुहुमे पुरिसजाते जच्चण्णिते चेव सुउज्जुयारे । बहुं पि अणुसासिए जे तहच्चा समे हु से होइ अझंझपत्ते ॥	जो पुरुष जान प्रिय और सूक्ष्म/परिमित बोलता है । वह जात्यान्वित और सरल परिणामी आचार्य द्वारा बहुशः अनुशासित होने पर भी सममावी और कलह से दूर रहता है ।
८.	जे यावि अप्पं वसुमं ति मंता संखाय वायं अपरिक्ख कुज्जा । तवेण वाहं सहिउ त्ति मंत्ता अण्णं जणं पस्सइ बिंबभूयं ॥	जो बिना परीक्षा किये स्वयं को संयमी और ज्ञानी मानकर आत्मोत्कर्ष दिखाता है एवं मैंश्रेष्ठ तपस्वी हूँ ऐसा मानकर दूसरे लोगों को प्रतिबिम्ब की तरह [तुच्छ] मानता है ।
९.	एगंतकूडेण तु से पलेइ ण विज्जई मोणपयंसि गोते । जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा वसुमण्णयरेण अबुज्झमाणे ॥	वह एकान्त मोह वश परिभ्रमण करता है। मौनपद/मुनिपद में गोत्र नहीं होता है । जो सम्मानार्थ उत्कर्ष दिखाता है, वह ज्ञानहीन अबुद्ध है ।
१०.	जे माहणे खत्तिए जाइए वा तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा । जे पव्वइए परदत्तभोई गोत्तेण जे थब्भति माणबद्धे ॥	जो ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जातीय हैं व उग्रपुत्र लिच्छवी है, पर जो प्रव्रजित एवं परदत्त भोजी होकर भी गोत्र-मद करता है । वह मानबद्ध है ।
११.	ण तस्स जाई व कुलं व ताणं णण्णत्य विज्जाचरणं सुचिण्णं । णिक्खम्म से सवइऽगारिकम्मं ण से पारए होइ विमोयणाए ॥	जाति और कुल उसके रक्षक नहीं हैं । केवल सुचीर्ण विद्याचरण ही उसका रक्षक है । जो अभिनिष्क्रमण कर गृहस्थ-कर्म का सेवन करता है वह कर्म विमोचन में असमर्थ होता है ।

१२. णिक्किचणे भिक्खु सुलहजीवी जे गारवं होइ सिलोगगामी । आजीवमेयं तु अबुज्झमाणो पुणो-पुणो विप्परियासुवेइ ॥	अंकिचन और रूक्ष जीवी भिक्षु यदि प्रशंसाकामी है, तो वह अहंकारी है। ऐसा अबुद्ध आजीवक पुनः पुनः विपर्यास प्राप्त करता है।
१३. जे भासवं भिक्खु सुसाहुवाई पडिहाणवं होइ विसारए य । आगाढपण्णे सुय-भावियप्पा अण्णं जणं पण्णया परिहवेज्जा॥	जो सुसाधुवादी, भाषावान्, प्रतिभावान्, विशारद, प्रखर-प्राज्ञ और श्रुत-भावितात्मा है वह दूसरों को अपनी प्रज्ञा से पराभूत कर देता है।
१४. एवं ण से होति समाहिपत्ते जे पण्णसा भिक्खु विउक्कसेज्जा । अहवा वि जे लाभमयावलित्ते अण्णं जणं खिसति बालपण्णे ॥	पर ऐसा व्यक्ति समाधि प्राप्त नहीं है। जो भिक्षु अपनी प्रज्ञा का उत्कर्ष दिखलाता है अथवा लाभ के मद से अवलिप्त है वह बालप्रज्ञ दूसरों की निन्दा करता है।
१५. पण्णामयं चेव तवोमयं च णिण्णामए गायमयं च भिक्खू । आजीवगं चेव चउत्थमाहु से पंडिए उत्तमपोग्गले से ॥	वह भिक्षु पंडित और महात्मा है जो प्रज्ञा-मद, तपो-मद, गौत्र-मद और चतुर्थ आजीविका-मद मन से निकाल देता है।
१६. एयाइं मयाइं विगिंच धीरा णेयाणि सेवंति सुधीरधम्मा । ते सव्वगोतावगता महेसी उच्चं अगोतं च गइं वयंति ॥	सुधीरधर्मी धीर इन मदों को छोड़कर पुनः सेवन नहीं करते हैं। सभी गोत्रों से दूर वे महर्षि उच्च और अगोत्र गति की ओर व्रजन करते हैं।
१७. भिक्खू मुतच्चे तह दिट्ठधम्मे गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा। से एसणं जाणमणेसणं च अण्णस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ।	जो भिक्षु मृतार्च तथा दृष्टधर्मा है। वह ग्राम व नगर में प्रवेश कर एपणा और अनेपणा को जाने और अन्नपान के प्रति अनासक्त रहे।

१८. अरइं रइं च अभिभूय भिक्खू बहुजणे वा तह एगचारी । एगंतमोणेण वियागरेज्जा एगस्स जंतो गतिरागती य ॥	भिक्षु अरति और रति का त्याग करके संघवासी अथवा एकचारी बने । जो बात मौन/मुनित्व से सर्वथा अविरुद्ध हो उसी का निरूपण करे । गति-अगति एकाकी जीव की होती है ।
१९. सयं समेच्चा अदुवा वि सोच्चा भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं । जे गरहिया सणियाणप्पओगा ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ॥	स्वयं जानकर अथवा सुनकर प्रजा का हितकर धर्म का भाषण करे । जो सनिदान प्रयोग निन्द्य है, उनका सुधीरधर्मी सेवन न करे ।
२०. केसिंचि तक्काए अबुज्झ भावं खुद्दं पि गच्छेज्ज असद्दहाणे । आउस्स कालाइयारं वघायं लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥	किसी के भाव को तर्क से न जानने वाला अश्रद्धालु क्षुद्रता को प्राप्त करता है । अतः साधक अनुमान से दूसरों के अभिप्राय को जानकर आयु का मरणातिचार और व्याघात करे ।
२१. कम्मं च छंदं च विगिंच धीरे विणएज्ज उ सव्वओ आयभावं । रूवेहिं लुप्पंति भयावहेहिं विज्जं गहाय तसथावरेहिं ॥	धीर कर्म और छन्द का विवेचन करे उसके प्रति आत्म-भाव का सर्वथा विनयन करे । भयावह त्रस-स्थावर रूपों से विद्या-ग्रहण कर पुरुष नष्ट होते हैं ।
२२. ण पूयणं चेव सिलोय कामे पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा । सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते अणाइले या अकसाइ भिक्खू ॥	निर्मल तथा अकषायी भिक्षु न पूजा व प्रशंसा की कामना करे और न ही किसी का प्रिय-अप्रिय करे । वह सब अनर्थों को छोड़ दे ।
२३. आहत्तहीयं समुपेहमाणे सव्वेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं । णो जीवियं णो मरणाहिकंखे परिव्वएज्जा व वलया विमुक्के । —त्ति बेमि	यथातथ्य का संप्रेक्षक सभी प्राणियों की हिंसा का परित्याग करे, जीवन-मरण का अनाकांक्षी बने और वलय से मुक्त हो कर परिव्रजन करे । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

चउद्दसमं अज्झयणं

गंथो

चतुर्दश अध्ययन

ग्रन्थ

आमुख

प्रस्तुत अध्याय 'ग्रन्थ' है। ग्रन्थियों से ग्रथित पुरुष ग्रन्थ है। भगवान् ने श्रमण को निग्रन्थ कहा है। जो बाहरी और आन्तरिक बन्धन के कारणों को छोड़कर स्वयं की यात्रा में लगा हुआ है वह निर्ग्रन्थ है।

ग्रन्थि बेड़ी है। बांधना उसका धर्म है। बेड़ी चाहे सोने की हो या लोहे की, आखिर है तो बेड़ी ही। साधक को अशुभ से ही नहीं छूटना पड़ता है अपितु शुभ से भी विमुक्त होना पड़ता है। अशुभ से शुभ बेहतर है किन्तु साधक की आँखों में शुभ के पार देखने की दूरदर्शिता होनी चाहिये। उसे शुभ नहीं अपितु शुद्ध होना है। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्धत्व की यात्रा ही निर्ग्रन्थ जीवन की वास्तविकता है।

ग्रन्थ का अर्थ शास्त्र भी होता है। शास्त्र सद्विचारों के झरोखों से अनुस्यूत होती सदाचार की रोशनी का उपनाम है। न केवल साधक अपितु मानव मात्र के लिए नैतिक विकास की आचार संहिता ही शास्त्र की अन्तर् कथा है। विश्व के लिए आत्मीयता, पर्यावरण के प्रतिसजगता, जीव-मात्र के प्रति अवैर भावना और व्यक्तिगत जीवन में नैतिकता की व्यवस्था हर धर्म-शास्त्र का अथ/इति है।

श्रमण का जीवन मौलिक रूप में शास्त्रीय अनुशासन है। शास्त्रीय तथ्यों को जीवन में आत्मसात् करना ही उसके प्रति निष्ठावान रहना है। किसी अपवाद/विकल्प को जीवन में स्थान देना स्वयं की शास्त्र-स्खलना है। यह वास्तव में साधनात्मक प्रमाद है। जबकि साधना की शुरुआत के लिए पहला कदम ही अप्रमाद होता है। आत्म जागरूकता पूर्वक शास्त्र-योग की पगडंडी पर चलने वाला ही कभी/किसी क्षण सामर्थ्य-योग के राज-मार्ग पर सपाट आ पाता है। साधनात्मक मापदंडों के मील के पत्थरों को पार करता हुआ वह गन्तव्य के द्वार पर दस्तक देता है। यह वह मंच है जहाँ शास्त्र का जीवन्त उपसंहार होता है। सर्वज्ञता के आईने में स्वयं ही झलकता है और स्वयं की हर धड़कन में स्वयं के शास्त्र का निर्माण होता है। इस सम्पूर्ण जीवनशैली में शास्त्र, ग्रन्थ पथ दिखलाऊ प्रकाश स्तम्भ है। आन्तरिक शत्रुओं को परास्त कर जिनत्व की राह पर ग्रन्थानुसार वर्धमान होना निर्ग्रन्थ/निर्वाण की संयोजना है। श्रमण को होना चाहिये इसी संयोजना का प्रवक्ता और अधिष्ठाता।

पढमो उद्देसो	प्रथम उद्देशक
१. गंथं विहाय इह सिक्खमाणो उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा । ओवायकारी विणयं सुसिक्खे जे छेए से विप्पमादं ण कुज्जा।	ग्रन्थ [आत्म-बंधक तत्त्व] को छोड़कर एवं शिक्षित होते हुए प्रव्रजित होकर ब्रह्मचर्य-वास करे, अवपातकारी विनय का प्रशिक्षण करे । जो निष्णात है वह प्रमाद न करे ।
२. जहा दिया-पोतमपत्तजातं सावासगा पवितुं मण्णमाणं । तमचाइयं तरुणमपत्तजायं ढंकादि अव्वत्तगमं हरेज्जा ॥	जैसे पंख रहित पक्षी-शावक भी अपने आवास/घोंसले से उड़ने का प्रयास करता है, पर उड़ नहीं पाता है एवं उस पंखहीन तरुण का कौए आदि हरण कर लेते हैं ।
३. एवं तु सिक्खे वि अपुट्ठधम्मे णिस्सारं वुसिमं मण्णमाणो । दियस्स छावं व अपत्तजातं हरिंसुणं पावधम्मा अणेगे ॥	वैसे ही अपुष्टधर्मी शैक्ष (नव-दीक्षित) चारित्र को निस्सार मानकर (संघ से) निकलना चाहता है । उसे अनेक पाप धर्मी वैसे ही हर लेते हैं जैसे पंखहीन पक्षी-शावक को कौए आदि ।
४. ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं अणोसिते णंतकरे ति णच्चा । ओभासमाणे दवियस्स वित्तं ण णिक्कसे बहिया आसुपण्णो॥	गुरुकुल में न रहने वाला [संसार का] अन्त नहीं कर सकता, यह जानकर मनुज गुरुकुल-वास एवं समाधि की इच्छा करे । गुरु वित्त/वृत्त पर अनुशासन करते हैं, अतः आशुप्रज्ञ गुरुकुल को न छोड़े ।
५. जे ठाणओ या सयणासणे या परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते । समितीसु गुत्तीसु य आयपण्णे वियागरेंते य पुढो वएज्जा ॥	स्थान, शयन, आसन और पराक्रम में जो सुसाधुयुक्त है, वह समितियों एवं गुप्तियों में आत्मप्रज्ञ होता है । वह अच्छी रीति से [उपदेश] दे ।

६. सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि
अणासवे तेसु परिव्वएज्जा ।
णिद्दं च भिक्खू ण पमाय कुज्जा
कहं कहं वी वितिगिच्छ तिण्णे ।

अनाश्रवी/मुनि कठोर शब्दों को सुनकर संयम में परिव्रजन करे। भिक्षु निद्रा एवं प्रमाद न करे। वह किसी तरह विचिकित्सा से पार हो जाए।

७. डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिते तु
रातिणिएणाऽवि समव्वएणं ।
सम्मं तयं थिरतो णाभिगच्छे
णिज्जंतए वावि अपारए से ।।

बाल या वृद्ध रात्निक अथवा समव्रती (सह दीक्षित) द्वारा अनुशासित होने पर जो सम्यक् स्थिरता में प्रवेश नहीं करता है, वह नीयमान होने पर भी संसार को पार नहीं कर सकता।

८. विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठे
डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिते तु ।
अब्भुट्ठिताए घडदासिए वा
अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे ।।

शिथिलाचारी, दहर-वृद्ध, पतित घट-दासी और गृहस्थ द्वारा समय [सिद्धांत] के अनुसार अनुशासित होने पर—

९. ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेज्जा
ण यावि किंची फरुसं वदेज्जा ।
तहा करिस्सं ति पडिस्सुणेज्जा
सेयं खु मेयं ण पमाद कुज्जा ।।

उन पर क्रोध न करे, व्यथित न हो, न ही किसी तरह की कठोर वाणी बोले 'अब मैं वैसा करूँगा, यह मेरे लिए श्रेय है' ऐसा स्वीकार कर प्रमाद न करे।

१०. वणंसि मुढस्स जहा अमूढा
मग्गाणुसासंति हितं पयाणं ।
तेणा वि मज्झं इणमेव सेयं
जं मे बुधा सम्मऽणुसासयंति ।।

जैसे वन में दिग्मूढ़ व्यक्ति को सत्य-ज्ञाता व्यक्ति हितकर मार्ग दिखलाते हैं और वह दिग्मूढ़ सोचता है कि अमूढ़ पुरुष जो मार्ग बता रहे हैं, वही मेरे लिए श्रेय है।

११. अह तेण मूढेण अमूढगस्स
कायव्व पूया सविसेसजुत्ता ।
एतोवमं तत्थ उदाहु वीरे
अणुगम्म अत्थं उवणेइ सम्मं ।।

उस मूढ़ को अमूढ़ का विशेष रूप से पूजन करना चाहिये। वीर ने यही उपमा कही है। इसके अर्थ को जानकर साधक सम्यक् उपनय करता है।

१२. णेता जहा अंधकारंसि राओ
मग्गं ण जाणाति अपस्समाणे।
से सुरियस्सा अब्भुग्गमेणं
मग्गं वियाणाति पगासितंसि ॥

जैसे मार्गदर्शक नेता भी रात्रि के अंधकार में न देख पाने के कारण मार्ग नहीं जानता है पर वही सूर्योदय होने पर प्रकाशित मार्ग को जान लेता है।

१३. एवं तु सेहे वि अपुट्ठधम्मे
धम्मं ण जाणाति अबुज्झमाणे।
से कोविए जिणवयणेण पच्छा
सूरोदए पासइ चक्खुणेव ॥

वैसे ही अपुष्टधर्मी सेध(नव दीक्षित) अबुद्ध होने के कारण धर्म नहीं जानता है तत्पश्चात् वही साधु जिन-वचन से कोविद बन जाता है जैसे सूर्योदय होने पर नेता चक्षु द्वारा देख लेता है।

१४. उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु
तसा य जे थावर जे य पाणा।
सया जए तेसु परिव्वएज्जा
मणप्पओसं अविकप्पमाणे ॥

ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् दिशाओं में जो भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं उनके प्रति सदा संयत होकर परिव्रजन करे मानसिक प्रद्वेष का विकल्प न करे।

१५. कालेण पुच्छे समियं पयासु
आइक्खमाणो दवियस्स वित्तं।
तं सोयकारी य पुढो पवेसे
संखाइमं केवलियं समाहिं ॥

प्रजा के मध्य द्रव्य एवं वित्त [ज्ञान आदि] के व्याख्याकार आचार्य से उचित समय पर पूर्ण समाधि के विषय में पूछे उसे ग्रहण करे और कैवलिक समाधि को जानकर उसे हृदय में स्थापित करे।

१६. अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण तायी
एएसु या संति णिरोधमाहु।
ते एवमक्खंति तिलोगदंसी
ण भुज्जमेतं ति पमायसंगं ॥

वैसा मुनि त्रिविध रूप सुस्थित होकर इनमें प्रवृत्त होता है। उससे शान्ति और [कर्म] निरोध होता है। त्रिलोकदर्शी कहते हैं कि वह साधक पुनः प्रमाद में लिप्त नहीं होता है।

१७. णिसम्म से भिक्खु समीहमट्ठं
पडिभाणवं होति विसारदे य।
आदाणमट्ठी वोदाण-मोणं
उवेच्च सुद्धेण उवेइ मोक्खं ॥

वह भिक्षु अर्थ को सुनकर एवं समीक्षा कर प्रतिभावान् और विशारद हो जाता है। वह आदानार्थी मुनि तप और संयम को प्राप्त कर शुद्ध [आहार से] निर्वाह कर मोक्ष प्राप्त करता है।

१८. संखाए धम्मं च वियागरंति
बुद्धा हु ते अंतकरा भवंति।
ते पारगा दोण्ह विमोयणाए
संसोधियं पण्हमुदाहरंति॥

(जो आचार्य प्रसंग) जानकर धर्म की व्याख्या करते हैं वे बोधि को प्राप्त ज्ञाता संसार/अज्ञान का अन्त करने वाले होते हैं। वे श्रुत के पारगामी विद्वान् अपने अपने और शिष्य के संदेह-विमोचन के लिए संशोधित जिज्ञासाओं की व्याख्या करते हैं।

१९. णो छादए णो वि य लूसएज्जा
माणं ण सेवेज्ज पगासणं च।
ण यावि पण्णे परिहास कुज्जा
ण याऽऽसिसावाद वियागरेज्जा॥

प्राज्ञ न अर्थ छिपाये, न अपसिद्धान्त का प्रतिपादन करे, न मान करे, न आत्म प्रशंसा करे, न परिहार करे और न ही आशीर्वचन कहे।

२०. भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणे
ण णिव्वहे मंतपएण गोयं।
ण किंचिमिच्छे मणुए पयासुं
असाहुधम्माणि ण संवएज्जा॥

जीव-हिंसा की आशंका से जुगुप्सित मुनि मंत्र पद से गोत्र (जीवन) का निर्वाह न करे। वह मनुज प्रजा से कुछ भी इच्छा न करे और असाधु धर्मों का संवाद न करे।

२१. हासं पि णो संधए पावधम्मे
ओए तहियं फरुसं वियाणे।
णो तुच्छए णो य विकत्थएज्जा
अणाइले या अकसाइ भिक्खू॥

निर्मल और अकषायी मुनि पापधर्मियों का परिहास न करे। अकिंचन रहे। सत्य कठोर होता है, इसे जाने। आत्महीनता एवं आत्म प्रशंसा न करे।

२२. संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू
विभज्जवायं च वियागरेज्जा।
भासादुगं धम्मसमुट्ठितेहिं
वियागरेज्जा समयाऽसुपण्णे॥

आशुप्रज्ञ भिक्षु अशंकित भाव से विभज्यवाद/स्याद्वाद का प्ररूपण करे। मुनि धर्म-समुत्थित पुरुषोंके साथ मिश्र भाषा का प्रयोग करे।

२३. अणुगच्छमाणे वितहं ऽभिजाणे
तहा तहा साहु अकक्कसेणं।
ण कत्थई भास विहिंसएज्जा
णिरुद्धगं वावि ण दीहएज्जा॥

कोई तथ्य को जानता है कोई नहीं। साधु अकर्कश/विनम्र भाव से उपदेश दे। कहीं भी भाषा सम्बन्धित हिंसा/तिरस्कार न करे। छोटी-सी बात को लम्बी न खींचे।

२४. समालवेज्जा पडिपुण्णभासी णिसामिया समियाअट्ठदंसी । आणाए सिद्धं वयणं भिजुंजे अभिसंधए पावविवेग भिक्खू ।।	प्रतिपूर्णभाषी, अर्थदर्शी भिक्षु सम्यक् श्रवण कर बोले। आज्ञा-सिद्ध वचन का प्रयोग करे और पाप-विवेक का संधान करे।
२५. अहाबुइयाइं सुसिक्खएज्जा जएज्ज या णाइवेलं वएज्जा । से दिट्ठिमं दिट्ठि ण लूसएज्जा से जाणइ भासिउं तं समाहिं ।।	यथोक्त का शिक्षण प्राप्त करे, यतना करे, अधिक समय तक न बोले, ऐसा भिक्षु ही उस समाधि को कहने की विधि जान सकता है।
२६. अलूसए णो पच्छण्णभासी णो सुत्तमत्थं च करेज्ज अण्णं । सत्थारभत्ती अणुवीचि वायं सुयं च सम्मं पडिवादएज्जा ।।	तत्त्वज्ञ भिक्षु प्रच्छन्नभाषी न बने, सूत्रार्थ को अन्य रूप न दे, शास्ता की भक्ति, परम्परागत सिद्धान्त और श्रुत/शास्त्र का सम्यक् प्रतिपादन करे।
२७. से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च धम्मं च जे विंदति तत्थ तत्थ । आएज्जवक्के कुसले वियत्ते से अरिहइ भासिउं तं समाहिं ।। —त्ति बेमि	वह शुद्ध सूत्रज्ञ और तत्त्वज्ञ है जो धर्म का सम्यक् ज्ञाता है। जिसका वचन लोकमान्य है, जो कुशल और व्यक्त है वही समाधि का प्रतिपादन करने में समर्थ है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

पन्नरसमं अज्झयणं

आयाणीयं

पञ्चदश अध्ययन

आदानीय

आमुख

प्रस्तुत अध्याय 'आदानीय' है। यह अध्याय इस ग्रन्थ का पन्द्रहवां पड़ाव है। सूत्रकार उन बातों पर यहां जोर देता है, जो साधक के लिए ग्राह्य और साध्य है। आदान ग्राह्य का ही सूचक है। धर्म की पीठ पर बैठने वाले साधक के लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सौ टंच स्वीकृति अनिवार्य है। समय चाहे जैसा हो, साधक को त्रिकालविद् होकर रत्नत्रय का ग्राहक और अनुमोदक होना चाहिये।

सम्यग्दर्शन साधक की अनिरुद्ध आभा है। ज्ञान और चारित्र की कसौटी बिना दर्शन के पूरी नहीं होती। संसार उसका अतीत है तो सिद्धि उसका भविष्य। साधक तो अतीत और भविष्य के बीच की एक जीवन्त दशा है। इसलिए साधक वर्तमान की अभिव्यक्ति है। साधना के प्रति सर्वतोभावेन निष्ठावान् होना केवल वर्तमान का उपयोग करना ही नहीं है,अपितु अतीत की तलहटी को पारकर भविष्य के शिखर पर विजय मशाल थामे चलना है। अतीत, वर्तमान और भविष्य के ज्ञान तथा उपयोग के लिए अनुक्षण सचेत रहना तत्त्वद्रष्टा का श्रमणोचित्य है।

साधक सत्य का अनुपश्यी होता है। सच्चा बोलना—झूठ न बोलना, यही सत्यवाद नहीं है। सच्चिदानन्द की उपलब्धि के लिए हर सत् के प्रति आत्मवत् भाव रखना सत्य की व्यावहारिक और जीवन्त अनुमोदना है। उसे एक परिवार से बंधी-बंधायी मैत्री से तो छूटना होता ही है पर ऐसा करने से वह मैत्री का विरोधी नही होता अपितु मैत्री का विस्तारक होता है। वह अनगार एक नीड़ से मुक्त होने के बाद विश्व के हर कोने-कान्तर में बसे पंछियों/जीवों के/हेतु प्रेम का दान/आदान करने का हकदार बन जाता है। उसके सारे क्रिया-कलाप और माप-दंड मात्र उन्हीं से जुड़ पाते हैं जो उसके लिए सद्दर्शन में मददगार होते हैं। वास्तव में वह ऐसी कोई जम्हाई भी नहीं लेता जो किसी एक जीव के लिए भी प्रतिकूल हो। उसके जीवन का तो एकमात्र आचरित सूत्र होता है परस्परोपग्रहो जीवानाम्। 'आदानीय' इसी सूत्र का रूपान्तरण है।

पढमो उद्देसो

प्रथम उद्देशक

१. जमतीतं पडुप्पण्णं
आगमिस्सं च णायओ ।
सव्वं मण्णति तं ताई
दंसणावरणंतए ॥

दर्शनावरण को समाप्त करने वाला एवं अतीत वर्तमान और भविष्य का ज्ञाता तत्त्वानुरूप जानता है ।

२. अंतए वितिगिच्छाए
से जाणइ अणेलिसं ।
अणेलिसस्स अक्खाया
ण से होइ तहिं तहिं ॥

विचिकित्सा को समाप्त करने वाला अनुपम तत्त्व का ज्ञाता है । अनुपम तत्त्व का प्रतिपादक हर स्थान पर नहीं होता ।

३. तहिं तहिं सुयक्खायं
से य सच्चे सुआहिए ।
सया सच्चेण संपण्णे
मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥

जो स्वाख्यात है वही सत्य और भाषित है । सत्य-सम्पन्न व्यक्ति के लिए जीवों से सदैव मैत्री ही उचित है ।

४. भूएसु ण विरुज्झेज्जा
एस धम्मे वुसीमओ ।
वुसीमं जगं परिण्णाय
अस्सि जीवियभावणा ॥

जीवों से वैर विरोध न करे, यही वृषी-मत/सुसंयमी का धर्म है । सुसंयमी को को जगत् परिज्ञात है, यह जीवित भावना है ।

५. भावणाजोगसुद्धप्पा
जले णावा व आहिया ।
णावा व तीरसंपण्णा
सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥

भावना-योग से विशुद्ध आत्मज्ञ पुरुष की स्थिति जल में नौका के समान है । वह तट प्राप्त नौका की तरह सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है ।

६. तिउट्टई उ मेहावी
जाणं लोगंसि पावगं ।
तुट्टंति पावकम्माणि
णवं कम्ममकुव्वओ ।।

लोक में पाप का ज्ञाता मेघावी पुरुष इससे मुक्त हो जाता है। जो नव कर्म का अकर्ता है उसके पाप कर्म टूट जाते हैं।

७. अकुव्वओ णवं णत्थि
कम्मं णाम विजाणओ ।
णच्चाण से महावीरे
जे ण जाई ण मिज्जई ।।

जो नवीनकर्म का अकर्ता है, विज्ञाता है वह कर्म बन्धन नहीं करता है। इसे जानकर जो न उत्पन्न होता है और न मरता है, वह महावीर है।

८. ण मिज्जई महावीरे
जस्स णत्थि पुरेकडं ।
वाऊव्व जालमच्चेई
पिया लोगंसि इत्थिओ ।।

जिसके पूर्वकृत [कर्म] नहीं है, वह महावीर मरता नहीं है। वह लोक में प्रिय स्त्रियों को वैसे ही पार कर जाता है जैसे वायु अग्नि को।

९. इत्थिओ जे ण सेवंति
आइमोक्खा हु ते जणा ।
ते जणा बंधणुम्मुक्का
णावकंखंति जीवियं ।।

जो स्त्री सेवन न करते हैं वे ही आदि मोक्ष हैं। बन्धन मुक्त वे मनुष्य जीवन की आकांक्षा नहीं करते हैं।

१०. जीवियं पिट्ठओ किच्चा
अंतं पावंति कम्मुणं ।
कम्मुणा संमुहीभूया
जे मग्गमणुसासइ ।।

जो कर्मों के सम्मुखीभूत/साक्षी होकर मार्ग का अनुशासन करते हैं, वे जीवन को पीठ दिखाकर कर्म-क्षय करते हैं।

११. अणुसासणं पुढो पाणी
वसुमं पूयणासए ।
अणासए जए दंते
दढे आरयमेहुणे ।।

आशारहित, संयत, दान्त दृढ़ और मैथुन-विरत पूजा की आकांक्षा नहीं करते हैं। वे संयमी प्राणियों में उनके योग्यतानुसार अनुसासन करते हैं।

१२. णीवारे व ण लीएज्जा छिण्णसोए श्रणाइले । श्रणाइले सया दंते संधि पत्ते श्रणेलिसं ।।	जो स्रोत छिन्न, अनाविल/निर्मल है वह नीवार/प्रलोभन से लिप्त न हो। अनाविल एवं दान्त सदा अनुपम सन्धि/दशा प्राप्त करता है।
१३. श्रणेलिसस्स खेयण्णे ण विरुज्झेज्ज केणइ । मणसा वयसा चेव कायसा चेव चक्खुमं ।।	अप्रमत्त और खेदज्ञ पुरुष मन, वचन और काया से किसी का विरोध न करे।
१४. से हु चक्खू मणुस्साणं जे कंखाए य श्रंतए । श्रंतेण खुरो वहती चक्कं श्रंतेण लोट्टति ।।	जो आकांक्षा का अन्त करता है वह मनुष्यों का चक्षु है। उस्तरा अन्त से चलता है। चक्र भी अन्त/धूरी से घूमता है।
१५. श्रंताणि धीरा सेवंति तेण श्रंतकरा इहं । इह माणुस्सए ठाणे धम्ममाराहिउं णरा ।।	धीर अन्त का सेवन करते हैं अतः वे अन्तकर हो जाते हैं। वे नर इस मनुष्य जीवन में धर्माराधना कर—
१६. णिट्ठिश्रट्ठा व देवा व उत्तरीए त्ति मे सुयं । सुयं च मेतमेगेसिं श्रमणुस्सेसु णो तहा ।।	मुक्त होते हैं अथवा उत्तरीय देव होते हैं, ऐसा मैने सुना है। कुछ लोगों से मैंने यह भी सुना है कि अमनुष्यों को वैसा नहीं होता।
१७. श्रंतं करेंति दुक्खाणं इहमेगेसि श्राहियं । श्राघातं पुण एगेसिं दुल्लभेऽयं समुस्सए ।।	कुछ लोगों ने कहा है कि [मनुष्य] दुःखों का अन्त करते हैं। पुनः कुछ लोग कहते हैं कि यह मनुष्य शरीर दुर्लभ है।

१८. इम्रो विद्धंसमाणस्स
पुणो संबोहि दुल्लहा।
दुल्लहाम्रो तहच्चाम्रो
जे धम्मट्ठं वियागरे ।।

यहाँ से च्युत जीव को सम्बोधि दुर्लभ है। धर्मार्थ के उपदेष्टा पूज्य पुरुष का योग भी दुर्लभ है।

१६. जे धम्मं सुद्धमक्खंति
पडिपुण्णमणेलिसं ।
म्रणेलिसस्स जं ठाणं
तस्स जम्मकहा कुम्रो ? ।।

जो प्रतिपूर्ण म्रनुपम, शुद्ध धर्म की व्याख्या करते हैं और जो अनुपम धर्म का स्थान है उसके पुनर्जन्म की कथा कहाँ।

२०. कुम्रो कयाइ मेहावी
उप्पजंति तथागया ? ।
तथागया म्रपडिण्णा
चक्खू लोगस्सणुत्तरा ।।

मेधावी तथागत पुनः कहाँ और कब उत्पन्न होते हैं। म्रप्रतिज्ञ तथागत लोक के म्रनुत्तर नेत्र हैं।

२१. म्रणुत्तरे य ठाणे से
कासवेण पवेइए ।
जं किच्चा णिव्वुडा एगे
णिट्ठं पावेंति पंडिया ।।

काश्यप ने उस म्रनुत्तर स्थान का प्रतिपादन किया है जिसके म्राचरण से कुछ साधक निर्वृत्त/उपशान्त होकर निष्ठा/मोक्ष प्राप्त करते हैं।

२२. पंडिए वीरियं लद्धुं
णिग्घायाय पवत्तगं ।
धुणे पुव्वकडं कम्मं
णवं चावि ण कुव्वइ ।।

पंडित/पुरुष कर्म-निर्घात/निर्जरा के लिए प्रवर्त्तक वीर्य को प्राप्तकर पूर्व कृत कर्म को समाप्त करे एवं नए कर्म न करे।

२३. ण कुव्वइ महावीरे
म्रणुपुव्वकडं रयं ।
रयसा संमुहीभूए
कम्मं हेच्चाण जं मयं ।।

महावीर म्रनुपूर्व कर्म-रज का [बंध] नहीं करता। वह रज के सम्मुख होकर कर्म क्षय कर जो मत है [उसे प्राप्त कर लेता है]।

२४. जं मयं सव्वसाहूणं
तं मयं सल्लगत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा
देवा वा अभविंसु ते॥

जो सर्व साधुओं को मान्य है वह मत निःशल्य है, उसकी साधना कर अनेक जीव तीर्ण हुए अथवा देव हुए हैं।

२५. अभविंसु पुरा वीरा
आगमिस्सा वि सुव्वया।
दुण्णिवोहस्स मग्गस्स
अंतं पाउकरा तिण्णे॥
—त्ति बेमि॥

सुव्रत वीर अतीत में हुए हैं एवं अनागत में भी होंगे। वे स्वयं दुर्निवोध मार्ग के अन्त को प्रगट कर तीर्ण हो जाते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

सोलसमं अज्झयणं

गाहा

षोडश अध्ययन

गाथा

आमुख

प्रस्तुत अध्याय 'गाथा' है। यह अध्याय अपने पूर्वज अध्यायों का मात्र अनुसरण नहीं है अपितु अपने पूर्ववर्ती पन्द्रहों अध्यायों का सार संक्षेप भी है। इस अध्ययन में साधक का मौलिक व्यक्तित्व/स्वरूप बखाना गया है। साधक को बहुतेरे नाम दिये जाते है जिनमें माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ की इस अध्याय में चर्चा की गई है। ये चारों शब्द सूत्रकार ने अलग-अलग ढंग से उठाये हैं किन्तु इनमें अर्थ-वैषम्य और गुण-वैषम्य नहीं है। माहन, श्रमण और भिक्षु साधनात्मक भूमिकाओं के विशेषण है, किन्तु निर्ग्रन्थ साधक की स्नातक भूमिका है।

माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ—ये चारों ही साधक की क्रमिक भूमिकाएँ हैं। माहन वह अहिंसक पुरुष है जो जीव-मात्र के साथ अवैर और प्रेम का सेतु/सम्बन्ध अनिवार्य मानता है। श्रमण वह है जिसका सारा श्रम समता से जुड़ा रहता है शत्रु-मित्र, कङ्कर-कंचन, आह्लाद-विषाद जैसे उतार-चढ़ाव भरे हर परिवेश में स्वयं को समतौल रखने वाला ही श्रमण की भूमिका पर है। भिक्षु वह है जो हर आसक्ति और प्रमत्तता का क्षय करने में तन्मय रहता है। निर्ग्रन्थ का काम है स्वयं के जीवन में गांठों को न लगने देना और लगी हुई गांठों को कुतर डालना। जहाँ परिग्रह आदि बाहरी गांठें हैं, वहीं मूर्च्छा आदि भीतरी गाँठें हैं। गांठ चाहे बाहर की हो चाहे भीतर की, गांठ का काम ही बांधना है। साधक को सिद्धि बन्धन में नहीं अपितु निर्ग्रन्थ और निर्बन्ध होने में है। कैवल्य से स्नातक होने के लिए इस आखिरी भूमिका को पाना अपरिहार्य है।

माहन से लेकर निर्ग्रन्थ तक का सम्पूर्ण दर्शन 'महावीर-उवाच' है। यह केवल महावीर की वाणी ही नहीं है, अपितु उनके ज्ञान की यशस्विता और अस्मिता भी है। उनकी वाणी की आठों याम अप्रमत्त परिपालना 'समय' से लेकर 'आदानीय' तक की मुखर अभिव्यंजना है। फिर 'गाथा' अपनी लय में स्वयं उसका संगान करेगी और सिद्धशिला उसे आमन्त्रित कर उसके हाथों में अमरत्व का शिलालेख/प्रमाण-पत्र सौंपेगी।

पढमो उद्देसो	प्रथम उद्देशक
१. अहाह भगवं—एवं से दंते दविए वोसट्ठकाए त्ति वच्चे—माहणे त्ति वा, समणे त्ति वा, भिक्खू त्ति वा, णिग्गंथे त्ति वा ।।	भगवान् ने कहा वह दान्त, शुद्ध चैतन्यवान् और देह का विसर्जन करने वाला पुरुष माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ शब्द से सम्बोधित होता है ।
२. पडिआह—भंते ! कहं णु दंते दविए वोसट्ठकाए त्ति वच्चे—माहणे त्ति वा ? समणे त्ति वा ? भिक्खू त्ति वा ? णिग्गंथे त्ति वा ? तं णो बूहि महामुणी !	पुनः पूछा- भदन्त! दान्त शुद्ध चैतन्यवान् और देह-विसर्जन करने वाले को माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ क्यों कहा जाता है । महामुने ! वह हमें कहें ।
३. इतिविरए सव्वपावकम्मेहिं पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण-पेसुण्ण-परपरिवाय-अरइ-रइ - मायामोस - मिच्छादंसण-सल्लविरए समिए सहिए सया जए, णो कुज्झे णो माणी 'माहणे' त्ति वच्चे ।।	जो सर्वपाप कर्मों से विरत है, प्रेय द्वेष, कलह, आरोप, पैशुन्य, परपरिवाद, अरति-रति, माया-मृषा एवं मिथ्या दर्शन शल्य से विरत, समित, [ज्ञान] सहित, सदा संयत है एवं जो क्रोधी एवं अभिमानी नहीं है वह माहन कहलाता है ।

४. एत्थ वि समणे—अणिस्सिए अणियाणे आयाणं च अइवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोहं च पेज्जं च दोसं च—इच्चेव जओ-जओ आयाणाओ अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ-तओ आयाणाओ पुव्वं पडिविरए सिआ दंते दविए वोसट्ठकाए 'समणे' त्ति वच्चे ॥

यहाँ भी श्रमण—अनिश्रित एवं आकांक्षा मुक्त होता है। जो आदान, अतिपात, मिथ्यावाद, समागत क्रोध, मान, माया, लोभ प्रेय और द्वेष—इस प्रकार जो-जो आत्म-प्रदोष के हेतु हैं उस-उस आदान से जो पूर्व में ही प्रतिविरत होता है, वह दान्त, शुद्ध चैतन्यवान् और देह विसर्जक 'श्रमण' कहलाता है।

५, एत्थ वि भिक्खु—अणुण्णए णावणते दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोग-सुद्धादाणे उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्तभोई 'भिक्खू' त्ति वच्चे ॥

यहाँ भी भिक्षु— जो मन से न उन्नत है न अवनत, जो दान्त, शुद्ध चैतन्यवान् और देह विसर्जक है, विविध परीषहों एवं उपसर्गों को पराजित कर अध्यात्म-योग एवं शुद्ध स्वरूप में स्थित है, स्थितात्मा, विवेकी और परदत्तभोजी है वह 'भिक्षु कहलाता है।

६. एत्थ वि णिग्गंथे—एगे एगविऊ बुद्धे संछिण्णसोए सुसंजए सुसमिए सुसामाइए आतप्पवायपत्ते विऊ दुहओ वि सोयपलिछिण्णे णो पूया-सक्कारलाभट्ठी धम्मट्ठी धम्म-विऊ णियागपडिवण्णे समियं चरे दंते दविए वोसट्ठकाए 'णिग्गंथे' त्ति वच्चे। से एवमेव जाणह जमहं भयंतारो ॥

—त्ति बेमि ॥

यहाँ भी निर्ग्रन्थ—एकाकी, एकविद्, बुद्ध, स्रोत छिन्न, सुसंयत, सुसमित, सुसामयिक, आत्म प्रवाद प्राप्त, विद्वान् द्विविध स्रोत परिछिन्न, पूजा-सत्कार का अनाकांक्षी, धर्मार्थी, धर्म विद्, मोक्ष मार्ग के लिए समर्पित, सम्यक्चारी, दान्त, शुद्ध चैतन्यवान् और देह-विसर्जक 'निर्ग्रन्थ' कहलाता है। उसे ऐसे ही जानो जैसे मैंने भदन्त से जाना।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

—